Chapter सत्तासी

साक्षात् वेदों द्वारा स्तुति

इस अध्याय में भगवान् नारायण के साकार तथा निर्विशेष पक्षों की महिमा गाने वाली, साक्षात् वेदों द्वारा स्तुतियाँ प्रस्तुत की गई हैं।

राजा परीक्षित ने श्रील शुकदेव गोस्वामी से पूछा कि वेद किस तरह परब्रह्म का प्रत्यक्ष रूप से उल्लेख कर सकते हैं, जबकि वेदों में तीन गुणों द्वारा नियंत्रित भौतिक जगत का वर्णन है और ब्रह्म इन तीनों गुणों से सर्वथा परे हैं। इसके उत्तर में शुकदेव गोस्वामी ने बदरिकाश्रम में श्री नारायण ऋषि तथा नारद मुनि के बीच हुई एक प्राचीन आकस्मिक भेंट का वर्णन किया। विचरण करते हुए उस पवित्र कुटिया में पहुँच कर नारद ने देखा कि भगवान् कलाप नामक निकटवर्ती ग्राम के उच्च स्तर के वासियों से घिरे हुए हैं। नारायण ऋषि तथा उनके संगियों को नमस्कार करके नारद ने उनसे यही प्रश्न पूछा।

उत्तर में नारायण ऋषि ने इसका वर्णन किया कि किस तरह बहुत पहले जनलोक में रह रहे महर्षियों के बीच इसी प्रश्न पर वाद-विवाद हुआ था। एक बार परम सत्य के स्वभाव को जानने के इच्छुक, इन ऋषियों ने सनन्दन कुमार को इस विषय पर बोलने के लिए चुना था। सनन्दन ने उन्हें बतलाया कि किस तरह सृष्टि के पूर्व अनेक देहधारी वेदों ने, भगवान् नारायण के श्वास लेने से उत्पन्न प्रथम उद्भवों के रूप में, उनकी महिमा विषयक स्तुतियाँ कीं। तब सनन्दन ने ये विस्तृत स्तुतियाँ सुनाईं।

जनलोक के निवासी सनन्दन से देहधारी वेदों की स्तुतियाँ सुनकर परम प्रसन्न हुए। इन स्तुतियों ने परब्रह्म के असली स्वभाव के बारे में प्रकाश डाला। तब उन्होंने सनन्दन का आदर किया और उनकी पूजा की। नारद मुनि श्री नारायण ऋषि के मुख से यह वृत्तान्त सुनकर अतीव प्रसन्न हुए। इस तरह नारद ने भगवान् को नमस्कार किया और फिर अपने शिष्य वेदव्यास को देखने गये, जिनको उन्होंने सुनी हुई सारी बातें बतला दीं।

श्रीपरीक्षिदुवाच
ब्रह्मन्ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः ।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात्सदसतः परे ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-परीक्षित् उवाच—श्री परीक्षित ने कहा; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण (शुकदेव); ब्रह्मणि—परब्रह्म में; अनिर्देश्ये—जिसका शब्दों में वर्णन करना कठिन हो; निर्गुणे—गुणरहित; गुण—प्रकृति के गुण; वृत्तयः—जिसका कार्यक्षेत्र; कथम्—कैसे; चरन्ति—कार्य करते हैं; श्रुतयः—वेद; साक्षात्—प्रत्यक्षतः; सत्—भौतिक वस्तु को; असतः—तथा इसके सूक्ष्म कारण; परे—उसमें, जो दिव्य है।.

श्री परीक्षित ने कहा : हे ब्राह्मण, भला वेद उस परम सत्य का प्रत्यक्ष वर्णन कैसे कर सकते हैं, जिसे शब्दों द्वारा बतलाया नहीं जा सकता? वेद भौतिक प्रकृति के गुणों के वर्णन तक ही सीमित हैं, किन्तु ब्रह्म समस्त भौतिक स्वरूपों तथा उनके कारणों को लाँघ जाने के कारण इन गुणों से रहित है।

तात्पर्य : इस अध्याय की टीका आरम्भ करने के पूर्व श्रील श्रीधर स्वामी स्तुति करते हैं—

वागीशा यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि।

यस्यास्ते हृदये संवित् तं नृसिंहमहंभजे॥

"मैं नृसिंह भगवान् की पूजा करता हूँ, जिनके मुख के भीतर वाणी के महान् स्वामी निवास करते हैं, जिनके वक्षस्थल पर लक्ष्मी वास करती है और जिनके हृदय में चेतना की दैवीशक्ति निवास करती

है।''

सम्प्रदाय विशुद्ध्यर्थं स्वीयनिर्बन्धयन्त्रित:।

श्रुतिस्तुतिमितव्याख्यां करिष्यामि यथामति॥

''अपने सम्प्रदाय को विशुद्ध बनाने की इच्छा से तथा कर्तव्य से बँधा होने के कारण मैं अपनी बुद्धि के अनुसार साक्षात् वेदों की स्तुतियों के विषय में संक्षिप्त टीका करूँगा।''

श्रीमद्‌भागवतं पूर्वै सारत: सन्निषेवितम्।

मया तु तदुपस्पृष्टम् उच्छिष्टमुपचीयते॥

''चूँकि मेरे पूर्ववर्तियों की व्याख्या से *श्रीमद्‌भागवत* पहले ही पूर्णतया आदरित है, अतएव मैं उनके द्वारा किये गये आदर का जूठन ही संग्रह कर सकता हूँ।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती अपनी ओर से ईश वन्दना प्रस्तुत करते हैं—

मम रत्नवणिग्भावं रत्नान्यपरिचिन्वत:।

हसन्तु सन्तो जिह्रेमि न स्वस्वान्तविनोदकृत्॥

''सन्त-भक्त मुझ पर रत्न का व्यापारी होने के लिए हँस सकते हैं, यद्यपि मैं बहुमूल्य रत्नों के विषय में कुछ नहीं जानता। किन्तु मुझे कोई लाज नहीं लगती, क्योंकि कम-से-कम मैं उनका मनोरंजन तो कर ही सकता हूँ।''

न मेऽस्ति वैदुष्यपि नापि भक्ति-

र्विरक्तिरक्तिर्न तथापि लौल्यात्।

सुदुर्गमादेव भवामि वेद-

स्तुत्यर्थचिन्तामणिराशिगृध्नु:॥

''यद्यपि मुझ में विद्या, भक्ति या विरक्ति नहीं है, तो भी मैं उस दुर्ग से वेदों की स्तुति रूपी चिन्तामणि को ग्रहण करने के लिए ललचाया रहता हूँ, जिसमें यह रखा हुआ है।''

मां नीचतायामविवेकवायु:

प्रवर्तते पातयितुं बलाच्चेत्।

लिखाम्यत: स्वामिसनातनश्री-

कृष्णाङ्घ्रिभास्तम्भकृतावलम्ब: ॥

''यदि मेरी अविवेक रूपी वायु—मेरी निम्न स्थिति को स्वीकार करने की अक्षमता—मुझे गिरा देने के लिए धमकाती है, तो इस टीका को लिखते हुए मुझे श्रीधर स्वामी, सनातन गोस्वामी तथा भगवान् श्रीकृष्ण के चरण रूपी तेजस्वी ख भों को पकड़ना होगा।''

प्रणम्य श्रीगुरुं भूय: श्रीकृष्णं करुणार्णवम्।

लोकनाथं जगच्चक्षु: श्रीशुकं तं उपाश्रये॥

''बारम्बार अपने आध्यात्मिक गुरु को तथा कृपा के सागर भगवान् श्रीकृष्ण को शीश झुकाकर मैं श्रीशुकदेव गोस्वामी की शरण ग्रहण करता हूँ, जो संसार के रक्षक तथा जगत भर के नेत्र हैं।''

पिछले अध्याय के अन्त में शुकदेव गोस्वामी ने परीक्षित महाराज को बतलाया था—

एवं स्व भक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान्।

उषित्वादिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात्॥

''हे राजन्! इस तरह अपने भक्तों के भक्त भगवान् अपने दो महान् भक्तों, श्रुतदेव तथा बहुलाश्व के साथ कुछ समय तक उन्हें सिद्ध सन्तों के आचरण की शिक्षा देते हुए रहते रहे। तब भगवान् द्वारका लौट गये।'' इस श्लोक के *सन्मार्ग* शब्द को कम-से-कम तीन प्रकार से समझा जा सकता है। पहले प्रकार में *सत्* का अर्थ ''भगवान् का भक्त'' लिया जाता है और इस तरह *सन्मार्ग* का अर्थ ''भक्तियोग का मार्ग'' होता है। दूसरे प्रकार में *सत्* का अर्थ ''दिव्य ज्ञान की खोज करने वाला'' है, अत: *सन्मार्ग* का अर्थ होगा ''ज्ञान का दार्शनिक मार्ग'' जिसका मुख्य लक्ष्य निर्विशेष ब्रह्म होता है। तीसरे प्रकार में *सत्* का अर्थ ''वेदों की दिव्य ध्वनि'' लें, तो *सन्मार्ग* का अर्थ होगा ''वैदिक आदेशों के पालन की प्रक्रिया।'' इनमें से सन्मार्ग के द्वितीय तथा तृतीय अर्थों से यह प्रश्न उठता है कि वेद किस तरह परम सत्य का वर्णन कर सकते हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी ने इस समस्या का परम्परागत संस्कृत काव्य शास्त्र की दृष्टि से विस्तृत विश्लेषण किया है। हमें मानना चाहिए कि शब्दों में तीन प्रकार की अभिव्यक्ति-शक्तियाँ होती हैं, जिन्हें *शब्द वृत्तियाँ* कहा जाता है। ये वे विविध प्रकार हैं, जिनसे किसी शब्द के अर्थ निकलते हैं। ये हैं—*मुख्य वृत्ति, लक्षणा वृत्ति* तथा *गौण वृत्ति*। *मुख्य वृत्ति* शब्द के मूल शाब्दिक अर्थ को बतलाती

है—इसे *अभिधा* शक्ति भी कहते हैं अर्थात् मुख्यार्थ अथवा शब्दकोषार्थ। *मुख्य वृत्ति* के दो उपविभाग हैं *रूढि* तथा *योग।* मूल अर्थ जब परम्परागत प्रयोग पर आधारित होता है, तो वह *रूढि* कहलाता है, जब किसी अन्य शब्द के अर्थ से व्युत्पत्तिविषयक नियमों से अर्थ निकले तो उसे *योग* कहते हैं। उदाहरणार्थ, *गो* शब्द *रूढि* का उदाहरण है, क्योंकि इसके शाब्दिक अर्थ से इसका सम्बन्ध परम्परागत है। इसके विपरीत *पाचक* शब्द *योग वृत्ति* है, जो *पच्* धातु में *क* प्रत्यय जोड़कर बना है।

मुख्यवृत्ति के अतिरिक्त कोई शब्द गौण, अलंकारिक रूप में भी प्रयुक्त हो सकता है। यह प्रयोग *लक्षणा* कहलाता है। नियम यह है कि यदि मुख्यवृत्ति से किसी शब्द का अर्थ उस प्रसंग में लग जाता है, तो फिर अलंकारिक अर्थ ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती। मुख्यवृत्ति के द्वारा किसी शब्द के अर्थ बताने में असफल होने पर ही *लक्षणा वृत्ति* का सहारा लिया जाता है। काव्य शास्त्र में *लक्षणा* के कार्य की विवेचना मिलती है। यह है : विस्तृत संदर्भ जो शाब्दिक अर्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाले किसी शब्द की ओर संकेत करता है। इस प्रकार *गंगायां घोष:* पद का शाब्दिक अर्थ होगा "गंगा में ग्वालों का गाँव" किन्तु ऐसा भाव निरर्थक होगा अत: *गंगायाम्* का अर्थ लक्षणा द्वारा "गंगा नदी के किनारे" निकाला जाता है, क्योंकि किनारा नदी से सम्बद्ध है। *गौण वृत्ति* लक्षणा का विशिष्ट प्रकार है, जिसमें अर्थ को समान भाव तक विस्तार दिया जाता है। उदाहरणार्थ, *सिंहो देवदत्त:* (देवदत्त सिंह है) में वीर देवदत्त को अलंकार के माध्यम से सिंह कहा गया है क्योंकि उसमें सिंह जैसे गुण हैं। इसके विपरीत सामान्य लक्षणा में, यथा *गंगायाम् घोष:* में स्थान का सम्बन्ध तो रहता है, समानता का नहीं।

सत्तासीवें अध्याय के इस प्रथम श्लोक में परीक्षित महाराज यह संदेह व्यक्त करते हैं कि वेदों के शब्द किस तरह *शब्द वृत्ति* के किसी भी मान्य प्रकार से परम सत्य के द्योतक हो सकते हैं। वे पूछते हैं *कथं साक्षात् चरन्ति*—वेद किस तरह *रूढ मुख्यवत्ति* के अनुसार ब्रह्म का वर्णन कर सकते हैं? ब्रह्म तो *अनिर्देश्य* है अर्थात् उनका अता-पता नहीं है। और किस तरह वेद *गौण वृत्ति* द्वारा ब्रह्म का वर्णन कर सकते हैं? वेद तो *गुणवृत्तय:* हैं अर्थात् गुणों के विवरणों से ओत-प्रोत हैं, किन्तु ब्रह्म तो *निर्गुण* है अर्थात् गुणों से रहित है। स्पष्ट है कि कोई भी अलंकार जो समान गुणों पर आधारित हो बिना गुणों वाली वस्तु पर लागू नहीं हो सकता। यही नहीं, परीक्षित महाराज इंगित करते हैं कि ब्रह्म तो *सदसत: परम्*—कार्यकारण से परे हैं। सूक्ष्म या स्थूल जगत से किसी तरह सम्बन्धित न होने से ब्रह्म न तो *योग*

वृत्ति द्वारा न ही *लक्षणा* द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, क्योंकि इन दोनों में ब्रह्म के साथ अन्य जीवों का कोई न कोई सम्बन्ध होना चाहिए।

अत: राजा परीक्षित इस दुविधा में हैं कि वेदों के शब्द किस तरह ब्रह्म का प्रत्यक्ष वर्णन कर सकते हैं।

श्रीशुक उवाच
बुद्धीन्द्रियमन:प्राणान्जनानामसृजत्प्रभु: ।
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च ॥ २॥

शब्दार्थ

श्री-शुक: उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; बुद्धि—बुद्धि; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मन:—मन; प्राणान्—तथा प्राण; जनाणाम्—जीवों के; असृजत्—उत्पन्न किया; प्रभु:—भगवान् ने; मात्र—इन्द्रिय-तृप्ति के; अर्थम्—हेतु; च—तथा; भव—जन्म (तथा उसके बाद के कार्यों) के; अर्थम्—हेतु; च—तथा; आत्मने—आत्मा (तथा अगले जीवन में उसके सुख की प्राप्ति) के लिए; अकल्पनाय—भौतिक उद्देश्यों के परित्याग के लिए; च—तथा।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : भगवान् ने जीवों की भौतिक बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन तथा प्राण को प्रकट किया, जिससे वे अपनी इच्छाओं को इन्द्रिय-तृप्ति में लगा सकें, सकाम कर्म में संलग्न होने के लिए बारम्बार जन्म ले सकें, अगले जन्म में ऊपर उठ सकें तथा अन्तत: मोक्ष प्राप्त कर सकें।

तात्पर्य : सृष्टि के उदयकाल में जब बद्धजीव भगवान् विष्णु के दिव्य शरीर के भीतर सुप्त पड़े थे, तो जीवों के लाभ हेतु भगवान् ने बुद्धि, मन आदि आवरणों को भेज कर सृष्टि प्रक्रम आरंभ किया। जैसाकि यहाँ कहा गया है, विष्णु स्वतंत्र स्वामी हैं (प्रभु) और सारे जीव उनके *जन* अर्थात् अधीन हैं। अत: हमें समझना चाहिए कि प्रभु ने जीवों के लिए ही इस विराट जगत की सृष्टि की। इसमें उनका एकमात्र उद्देश्य *दया* था।

भगवान् जीवों को स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर प्रदान करके उन्हें इन्द्रिय-तृप्ति में और मनुष्य योनि में धर्म, अर्थ तथा मोक्ष में लगाते हैं। बद्धजीव प्रत्येक शरीर में अपनी इन्द्रियों का उपयोग भोग करने के काम में लगाता है और जब उसे मनुष्य का शरीर मिलता है, तो उसे जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में विविध नियत कार्य भी करने होते हैं। यदि वह श्रद्धापूर्वक इन कर्तव्यों को निभाता है, तो भविष्य में उसे और अधिक उत्तम सुख मिलता है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो वह पतित हो जाता है। जब जीव

भौतिक जीवन से मुक्त होने के लिए लालायित होता है, तो मुक्ति का मार्ग उसे सदा उपलब्ध रहता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका है कि इस श्लोक में *च* शब्द का बारम्बार आना इसका सूचक है कि भगवान् जो कुछ भी प्रदान करते हैं—न केवल मुक्ति का मार्ग अपितु धार्मिक जीवन में क्रमशः उन्नति तथा समुचित इन्द्रियतृप्ति—उसका महत्त्व है।

इन सारे प्रयासों में जीव अपनी सफलता के लिए भगवत्कृपा पर निर्भर करते हैं। बुद्धि, इन्द्रिय, मन तथा प्राण के बिना जीव कुछ भी उपलब्ध नहीं कर सकते—न तो स्वर्ग की प्राप्ति, न ज्ञान द्वारा शुद्धि, न योग में ध्यान की आठ सिद्धियाँ, न भक्तियोग द्वारा प्राप्त की जाने वाली शुद्ध भक्ति जो भगवान् के नामों के श्रवण और कीर्तन से प्रारम्भ होती है।

यदि परमेश्वर बद्धजीवों के कल्याण हेतु ये सारी सुविधाएँ जुटाता है, तो फिर वह निर्विशेष कैसे हो सकता है? उपनिषद् परम सत्य को निर्विशेष के रूप में प्रस्तुत न करके उस के साकार गुणों के विषय में विस्तार से बतलाते हैं। उपनिषदों द्वारा वर्णित ब्रह्म समस्त निम्न भौतिक गुणों से मुक्त हैं, तो भी वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सबों का स्वामी तथा नियन्ता, ब्रह्माण्ड-भर में पूज्य, हर एक के कर्म का फल देने वाला तथा सच्चिदानन्द रूप हैं। *मुण्डक उपनिषद्* (१.१.९) में कहा गया है—*यः सर्वज्ञः स सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः* जो सर्वज्ञ हैं और जिनसे समस्त ज्ञान की शक्ति प्राप्त होती है वे सबसे अधिक बुद्धिमान हैं। *बृहदारण्यक उपनिषद्* के शब्दों में (४.४.२२; ३.७.३. तथा १.२.४) *सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः*—वे हर एक के स्वामी तथा नियंत्रक हैं। *यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या आन्तरः*—वे जो पृथ्वी के भीतर वास करते हैं तथा उसमें व्याप्त हैं। *सोऽकामयत बहु स्याम्*—उन्होंने इच्छा की कि मैं अनेक हो जाऊँ। इसी प्रकार *ऐतरेय उपनिषद्* (३.११) में कहा गया है *स ऐक्षत तत् तेजोऽसृजत*—उन्होंने अपनी शक्ति के ऊपर दृष्टि फेरी, जिसके बाद उन्होंने सृष्टि प्रकट की। *तैत्तिरीय उपनिषद्* (२.१.१) की घोषणा है—*सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म*—ब्रह्म असीम सत्य तथा ज्ञान है।

तत् त्वम् असि वाक्यांश (*छान्दोग्य उपनिषद* ६.८.७) को प्रायः निर्विशेषवादी सान्त जीवात्मा तथा उसके स्रष्टा में तादात्म्य की पुष्टि के लिए उद्धृत करते हैं। शंकराचार्य तथा उनके अनुयायीगण इन शब्दों को उन कुछ *महावाक्यों* का रूप देते हैं, जिनसे वेदान्त का सार व्यक्त होता है। किन्तु वेदान्त के आदर्श वैष्णव मतानुयायी इस व्याख्या का डट कर विरोध करते हैं। आचार्य रामानुज, मध्व, बलदेव

विद्याभूषण इत्यादि ने उपनिषदों तथा अन्य श्रुतियों के क्रमबद्ध अध्ययन के आधार पर कई वैकल्पिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं।

यहाँ पर महाराज परीक्षित द्वारा पूछे गये इस प्रश्न का कि "वेद किस तरह प्रत्यक्ष रूप से परम सत्य का द्योतन कर सकते हैं?" शुकदेव गोस्वामी ने इस प्रकार उत्तर दिया है, "भगवान् ने बद्धजीवों के लिए बुद्धि तथा अन्य तत्त्वों की रचना की।" संशयवादी आपत्ति कर सकता है कि यह उत्तर अप्रासंगिक है। किन्तु शुकदेव गोस्वामी का उत्तर वास्तव में अप्रासंगिक नहीं है, जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती व्याख्या करते हैं। सूक्ष्म प्रश्नों के उत्तर प्राय: अप्रत्यक्ष रीति से दिये जाते हैं। जैसाकि स्वयं भगवान् ने उद्धव को दिये गये अपने उपदेशों में (*भागवत* ११.२१.३५) कहा है—*परोक्षवादा ऋषय: परोक्षं मम च प्रियम्*—वैदिक भविष्य द्रष्टा तथा मंत्र गुह्य शब्दावली का प्रयोग करते हैं और मैं भी ऐसे ही गोपनीय वर्णनों से प्रसन्न रहता हूँ। इस वर्तमान प्रसंग में वे निर्विशेषवादी, जिनकी ओर से परीक्षित महाराज ने यह प्रश्न पूछा है, प्रत्यक्ष उत्तर को नहीं समझ सकते, इसीलिए शुकदेव गोस्वामी यह परोक्ष उत्तर देते हैं, "तुम कहते हो कि ब्रह्म का वर्णन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि भगवान् ने बुद्धि, मन तथा इन्द्रियाँ न बनाई होतीं तो ध्वनि आदि अनुभव की जाने वाली वस्तुएँ तुम्हारे ब्रह्म की ही तरह अवर्णनीय रह जातीं। तब तो तुम जन्म से अंधे तथा बहरे रहते और भौतिक स्वरूपों तथा ध्वनियों के बारे में कुछ भी न जानते, ब्रह्म की बात तो कोसों दूर रहती। अत: जिस तरह दयालु ईश्वर ने हमें अनुभव करने की अनुभूति तथा दृष्टि, ध्वनि आदि की अनुभूति का अन्यों को वर्णन करने के साधन प्रदान किये हैं उसी तरह वही ईश्वर किसी न किसी को ब्रह्म की अनुभूति करने की ग्रहणशील क्षमता प्रदान कर सकता है। यदि वह चाहे तो शब्दों से किसी असाधारण विधि से काम करा सकता है—भौतिक पदार्थों, गुणों, श्रेणियों तथा कार्यों की ओर सामान्य संदर्भ बताने के अलावा—जिससे वे ब्रह्म को व्यक्त कर सकें। अन्तत: वह सर्वशक्तिमान स्वामी (*प्रभु*) है और अवर्णनीय को वर्णनीय बना सकता है।"

मत्स्यराज राजा सत्यव्रत को विश्वास दिलाते हैं कि ब्रह्म को वेदों के शब्दों से जाना जा सकता है—

मदीयं महिमानं च परं ब्रह्मेति शब्दितम्।

वेत्सस्यनुग्रहीतं मे सम्प्रश्नैर्विवृतं हृदि॥

''मैं तुम्हें ठीक से सलाह दूँगा और तुम पर दया करूँगा और चूँकि तुमने प्रश्न किया है, इसलिए मेरी महिमा से सम्बन्धित हर बात, जो कि परब्रह्म के नाम से विख्यात है तुम्हारे हृदय में प्रकट हो जायेगी। इस तरह तुम मेरे विषय में सब कुछ जान सकोगे।'' (*भागवत* ८.२४.३८)

जिस भाग्यशाली जीव को भगवान् ने दैवी उत्सुकता प्रदान की है, वह ब्रह्म के स्वभाव के बारे में प्रश्न करेगा और महान् ऋषियों द्वारा दिये गये उत्तरों को सुनकर, जो वेदों में उद्धृत है, वह भगवान् को यथारूप में जान सकेगा। अतएव परम पुरुष की विशेष कृपा से ही ब्रह्म *शब्दितम्* (शब्दों द्वारा निरूपित) बनता है। अन्यथा वेदों के शब्द भगवान् की विशेष कृपा के बिना परम ब्रह्म को प्रकट नहीं कर सकते।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती का सुझाव है कि इस श्लोक में शुकदेव गोस्वामी द्वारा कहा गया *बुद्धि* शब्द *महत् तत्त्व* को सूचित करने वाला हो सकता है, जिससे आकाश के विभिन्न अंश (यथा ध्वनि) निकलते हैं, जिन्हें यहाँ पर *इन्द्रिय* कहा गया है। तब *मात्रार्थम्* का अर्थ होगा ''ब्रह्म का वर्णन करने के लिए दिव्य ध्वनि का प्रयोग करने के हेतु'' क्योंकि इसी निश्चित कार्य के लिए भगवान् ने प्रकृति को आकाश तथा ध्वनि उत्पन्न करने के लिए प्रेरित किया।

सृष्टि के प्रयोजन को आगे समझाने के लिए *भवार्थम्* तथा *आत्मने कल्पनाय* (*अकल्पनाय* के स्थान पर *कल्पनाय* लेने पर) शब्दों का प्रयोग हुआ है। *भवार्थम्* का अर्थ है ''जीवों के कल्याण हेतु।'' परमात्मा (*आत्मने*) की पूजा (*कल्पनम्*) ही वह साधन है, जिससे सारे जीव उस दैवी प्रयोजन को पूरा कर सकते हैं, जिसके लिए वे जीवित हैं। बुद्धि, मन तथा इन्द्रियाँ भगवान् की पूजा करने के ही निमित्त प्रयुक्त होनी चाहिए, चाहे जीव उन्हें आध्यात्मिक शुद्धता के स्तर पर लाया हो या नहीं।

किस तरह शुद्ध तथा अशुद्ध भक्त अपनी बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों का उपयोग भगवान् की पूजा करने में लगायें इसका वर्णन *गोपालतापनी उपनिषद्* में (*पूर्व* १२) में मिलता है—

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्।

द्विभुजं मौनमुद्राध्यं वनमालिनमीश्वरम्॥

"द्विभुजी रूप में प्रकट होने वाले भगवान् के दिव्य नेत्र कमल जैसे, वर्ण बादलों के रंग का तथा वस्त्र बिजली की चमक जैसे थे। वे जंगली फूलों की माला पहने थे तथा उनका सौन्दर्य उनकी मौन मुद्रा के कारण बढ़ गया था।" चूँकि भगवान् के पूर्ण भक्तों की दिव्य बुद्धि तथा इन्द्रियाँ भगवान् के शुद्ध आध्यात्मिक सौन्दर्य को ठीक से देखती हैं और उनकी अनुभूतियों की प्रतिध्वनि *गोपालतापनी श्रुति* के वर्णन में प्रतिध्वनित होती हैं, जिसमें भगवान् कृष्ण के नेत्रों, शरीर तथा वस्त्र की उपमा कमल, बादल तथा बिजली से दी गई है। दूसरी ओर, साधन भक्ति के स्तर पर भक्तों को जो शुद्ध होने की प्रक्रिया से गुजर रहे होते हैं भगवान् के असीम दिव्य सौन्दर्य का कुछ कुछ ही अनुभव रहता है। फिर भी *गोपालतापनी उपनिषद्* जैसे शास्त्रों से इस जैसे उद्धरणों को सुनकर वे अपनी बुद्धि के अनुसार भगवान् के ध्यान में लग जाते हैं। यद्यपि नवदीक्षित भक्त भगवान् की पूर्ण अनुभूति प्राप्त करना या स्थिर होकर उनके शरीर को घेरने वाले ऐश्वर्य पर ध्यान करना पूरी तरह नहीं सीख पाते, फिर भी वे यह कल्पना करने में आनन्द पाते हैं कि "हम अपने प्रभु का ध्यान कर रहे हैं।" और भगवान् अपनी अपार कृपा की तरंगों में बह कर स्वयं सोचते हैं, "ये भक्तगण मेरा ध्यान कर रहे हैं।" जब उनकी भक्ति परिपक्व हो जाती है, तो वे उन्हें अपने चरणों की घनिष्ठ सेवा करने की ओर खींच लेते हैं। इस तरह यह निष्कर्ष निकला कि ब्रह्म की कृपा से ही वेद ब्रह्म के साकार स्वरूप तक पहुँच सकते हैं।

सैषा ह्युपनिषद्ब्राह्मी पूर्वेशां पूर्वजैर्धृता ।
श्रद्धया धारयेद्यस्तां क्षेमं गच्छेदकिञ्चनः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सा एषा—वही; हि—निस्सन्देह; उपनिषत्—उपनिषद्; ब्राह्मी—ब्रह्म से सम्बन्धित; पूर्वेषाम्—हमारे पूर्वजों (यथा नारद) के; पूर्व-जैः—पूर्वजों द्वारा (यथा सनक); धृत—ध्यान किया गया; श्रद्धया—श्रद्धा के साथ; धारयेत्—ध्यान करता है; यः—जो भी; ताम्—उस पर; क्षेमम्—चरम सफलता; गच्छेत्—प्राप्त करेगा; अकिञ्चनः—भौतिक सम्बन्ध से रहित।

हमारे प्राचीन पूर्वजों से भी पूर्व, जो लोग हो चुके हैं, उन्होंने भी परम सत्य के इसी गुह्य ज्ञान का ही ध्यान किया है। निस्सन्देह, जो भी श्रद्धापूर्वक इस ज्ञान में एकाग्र होता है, वह भौतिक आसक्ति से छूट जायेगा और जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा।

तात्पर्य : ब्रह्म विषयक गुह्य ज्ञान के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह अनन्त काल से विद्वान मुनियों की प्रामाणिक श्रेणी द्वारा हमें प्राप्त हुआ है। जो कोई सकाम अनुष्ठानों और मानसिक अनुमानों की विभ्रान्तियों को त्याग कर आदरपूर्वक ब्रह्म-ज्ञान का अनुशीलन करता है, वह भौतिक देह

तथा सांसारिक समाज की झूठी उपाधियों को त्यागना सीख जायेगा और सिद्धि प्राप्ति के योग्य बन सकेगा।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार इस अध्याय के प्रथम दो श्लोक ब्रह्म के विषय में उपनिषद् माने जा सकते हैं। शुकदेव गोस्वामी अपने को इसका लेखक नहीं बताते, क्योंकि यह उपनिषद् इसके पूर्व नारद ने कही, जिसे उन्होंने सनककुमार से सुना था।

अत्र ते वर्णयिष्यामि गाथां नारायणान्विताम् ।
नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्य च ॥ ४॥

शब्दार्थ

अत्र—इस सम्बन्ध में; ते—तुमसे; वर्णयिष्यामि—वर्णन करूँगा; गाथाम्—विवरण; नारायण-अन्विताम्—भगवान् नारायण से सम्बन्धित; नारदस्य—नारद की; च—तथा; संवादम्—वार्ता; ऋषेः नारायणस्य—श्री नारायण ऋषि की; च—तथा।

इस सम्बन्ध में मैं तुम से भगवान् नारायण विषयक एक गाथा कहूँगा। यह उस वार्ता के विषय में है, जो श्री नारायण ऋषि तथा नारद मुनि के मध्य हुई थी।

तात्पर्य : भगवान् नारायण निम्नलिखित गाथा से दो प्रकार से जुड़े हैं—उसके वक्ता तथा उसके विषय के रूप में।

एकदा नारदो लोकान्पर्यटन्भगवत्प्रियः ।
सनातनमृषिं द्रष्टुं ययौ नारायणाश्रमम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; नारदः—नारद मुनि; लोकान्—लोकों में; पर्यटन्—भ्रमण करते हुए; भगवत्—भगवान् के; प्रियः—प्रिय; सनातनम्—आदि; ऋषिम्—ऋषि को; द्रष्टुम्—देखने के लिए; ययौ—गये; नारायण-आश्रमम्—नारायण ऋषि की कुटिया में।

एक बार ब्रह्माण्ड के विविध लोकों का भ्रमण करते हुए, भगवान् के प्रिय भक्त नारद आदि ऋषि नारायण से मिलने, उनके आश्रम में गये।

यो वै भारतवर्षेऽस्मिन्क्षेमाय स्वस्तये नृणाम् ।
धर्मज्ञानशमोपेतमाकल्पादास्थितस्तपः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; वै—निस्सन्देह; भारत-वर्षे—भारत की पवित्र भूमि पर; अस्मिन्—इस; क्षेमाय—इस जीवन में कल्याण के लिए; स्वस्तये—तथा अगले जीवन में कल्याण के लिए; नृणाम्—मनुष्यों के; धर्म—धर्म; ज्ञान—आध्यात्मिक ज्ञान; शम—तथा आत्म-संयम से; उपेतम्—समृद्ध; आ-कल्पात्—कल्प (ब्रह्मा के दिन) के प्रारम्भ से; आस्थितः—करते हुए; तपः—तपस्या।

कल्प के शुभारम्भ से ही नारायण ऋषि इस भारत-भूमि में धार्मिक कर्तव्यों को पूरी तरह सम्पन्न करते हुए एवं मनुष्यों के इस लोक तथा अगले लोक में लाभ के लिए आध्यात्मिक ज्ञान तथा आत्म-संयम को आदर्श रूप प्रदान करते हुए तपस्या कर रहे थे।

तत्रोपविष्टमृषिभिः कलापग्रामवासिभिः ।
परीतं प्रणतोऽपृच्छदिदमेव कुरूद्वह ॥ ७॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; उपविष्टम्—बैठे हुए; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; कलाप-ग्राम—कलाप नामक ग्राम में (जो बदरिकाश्रम के निकट है); वासिभिः—वास कर रहे; परीतम्—घिरे हुए; प्रणतः—झुक कर; अपृच्छत्—पूछा; इदम् एव—यही (प्रश्न); कुरु-उद्वह—हे कुरुश्रेष्ठ।

वहाँ नारद भगवान् नारायण ऋषि के पास पहुँचे, जो कलाप ग्राम के मुनियों के बीच में बैठे हुए थे। हे कुरुवीर, भगवान् को नमस्कार करने के बाद नारद ने उनसे यही प्रश्न पूछा, जो तुमने मुझसे पूछा है।

तस्मै ह्यवोचद्भगवानृषीणां शृण्वतामिदम् ।
यो ब्रह्मवादः पूर्वेषां जनलोकनिवासिनाम् ॥ ८॥

शब्दार्थ

तस्मै—उससे; हि—निस्सन्देह; अवोचत्—बोले; भगवान्—भगवान्; ऋषीणाम्—मुनियों के; शृण्वताम्—सुन रहे; इदम्—यह; यः—जो; ब्रह्म—ब्रह्म के विषय में; वादः—चर्चा; पूर्वेषाम्—प्राचीन; जन-लोक-निवासिनाम्—जनलोक के निवासियों के बीच।

ऋषियों के सुनते-सुनते नारायण ऋषि ने नारद को परम ब्रह्म विषयक, वह प्राचीन चर्चा सुनाई, जो जनलोक के वासियों के बीच हुई थी।

श्रीभगवानुवाच
स्वायम्भुव ब्रह्मसत्रं जनलोकेऽभवत्पुरा ।
तत्रस्थानां मानसानां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ॥ ९॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; स्वायम्भुव—हे स्व-जन्मा ब्रह्मा के पुत्र; ब्रह्म—दिव्य ध्वनि के उच्चारण से सम्पन्न; सत्रम्—यज्ञ; जन-लोके—जनलोक में; अभवत्—हुआ; पुरा—भूतकाल में; तत्र—वहाँ; स्थानाम्—वहाँ रहने वालों के; मानसानाम्—मन से उत्पन्न (ब्रह्मा) के; मुनीनाम्—मुनियों के मध्य; ऊर्ध्व—ऊपर की ओर (गति करने वाले); रेतसाम्—वीर्य वाले।

भगवान् ने कहा : हे स्वजन्मा ब्रह्मा के पुत्र, एक बार बहुत समय पहले, जनलोक में रहने वाले विद्वान मुनियों ने दिव्य ध्वनि का उच्चारण करते हुए एक महान् ब्रह्म यज्ञ सम्पन्न किया। ये

सारे मुनि, जो ब्रह्मा के मानस पुत्र थे, पूर्ण ब्रह्मचारी थे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की व्याख्या है कि यहाँ पर *सत्रम्* शब्द वैदिक यज्ञ का द्योतक है, जिसमें भाग लेने वाले सारे लोग पुरोहित की तरह कार्य करने के लिए समान रूप से पात्र होते हैं। यहाँ पर, जनलोक का प्रत्येक ऋषि ब्रह्म के विषय में अच्छी तरह बोल सकता था।

श्वेतद्वीपं गतवति त्वयि द्रष्टुं तदीश्वरम् ।
ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुतयो यत्र शेरते ।
तत्र हायमभूत्प्रश्नस्त्वं मां यमनुपृच्छसि ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्वेतद्वीपम्—श्वेतद्वीप में; गतवति—जाकर; त्वयि—तुम (नारद); द्रष्टुम्—देखने के लिए; तत्—इसका; ईश्वरम्—स्वामी (अनिरुद्ध); ब्रह्म—ब्रह्म विषयक; वादः—गोष्ठी; सु—उत्साहपूर्वक; संवृत्तः—प्रारम्भ हुई; श्रुतयः—वेद; यत्र—जिसमें (अनिरुद्ध जोकि क्षीरोदकशायी विष्णु भी कहलाते हैं); शेरते—शयन करने लगे; तत्र—उसके विषय में; ह—निस्सन्देह; अयम्—यह; अभूत्—उठा; प्रश्नः—प्रश्न; त्वम्—तुम; माम्—मुझसे; यम्—जो; अनुपृच्छसि—फिर से पूछ रहे हो।

उस समय तुम श्वेतद्वीप में भगवान् का दर्शन करने गये हुए थे—जिनके भीतर ब्रह्माण्ड के संहार काल के समय सारे वेद विश्राम करते हैं। जनलोक में परब्रह्म के स्वभाव के विषय में ऋषियों के मध्य जीवन्त वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ। निस्सन्देह, तब यही प्रश्न उठा था, जिसे तुम अब मुझ से पूछ रहे हो।

तुल्यश्रुततपःशीलास्तुल्यस्वीयारिमध्यमाः ।
अपि चक्रुः प्रवचनमेकं शुश्रूषवोऽपरे ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तुल्य—समान; श्रुत—वेदों से सुनने में; तपः—तथा तपस्या; शीलाः—जिनके चरित्र; तुल्य—समान; स्वीय—मित्रों का; अरि—शत्रु; मध्यमाः—तथा उदासीन या निष्पक्ष; अपि—यद्यपि; चक्रुः—बनाया; प्रवचनम्—वक्ता को; एकम्—उनमें से एक; शुश्रूषवः—उत्सुक श्रोतागण; अपरे—अन्य।

यद्यपि वेदाध्ययन तथा तपस्या के मामले में ये ऋषि समान रूप से योग्य थे और मित्रों, शत्रुओं तथा निष्पक्षों को समान दृष्टि से देखते थे, फिर भी उन्होंने अपने में से एक को वक्ता बनाया और शेष जन उत्सुक श्रोता बन गये।

श्रीसनन्दन उवाच
स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सह शक्तिभिः ।
तदन्ते बोधयां चक्रुस्तल्लिङ्गैः श्रुतयः परम् ॥ १२ ॥

यथा शयानं संराजं वन्दिनस्तत्पराक्रमैः ।
प्रत्यूषेऽभेत्य सुश्लोकैर्बोधयन्त्यनुजीविनः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

श्री-सनन्दनः—श्री सनन्दन (ब्रह्मा का मानस पुत्र, जिसे ऋषियों के प्रश्न का उत्तर देने के लिए चुना गया) ने; उवाच—कहा; स्व—अपने से; सृष्टम्—उत्पन्न; इदम्—यह (ब्रह्माण्ड); आपीय—समेट कर के; शयानम्—सोया हुआ; सह—साथ; शक्तिभिः—अपनी शक्तियों के; तत्—उस (प्रलयकाल) के; अन्ते—अन्त में; बोधयाम् चक्रुः—उसे जगाया; तत्—उसके; लिङ्गैः—गुणों (के वर्णन) से; श्रुतयः—वेद; परम्—ब्रह्म; यथा—जिस तरह; शयानम्—सोया हुआ; संराजम्—राजा को; वन्दिनः—उसके दरबारी कवि; तत्—उसके; पराक्रमैः—वीरतापूर्ण कार्यों (के वर्णन) से; प्रत्यूषे—प्रातःकाल; अभेत्य—पास पहुँच कर; सुश्लोकैः—कवित्वमय; बोधयन्ति—जगाते हैं; अनुजीविनः—उसके सेवक।

श्री सनन्दन ने उत्तर दिया : जब भगवान् ने अपने द्वारा पूर्व-निर्मित ब्रह्माण्ड को समेट लिया, तो वे कुछ काल तक ऐसे लेटे रहे, मानो सोये हुए हैं और उनकी सारी शक्तियाँ उनमें सुप्त पड़ी रहीं। जब अगली सृष्टि करने का समय आया, तो साक्षात् वेदों ने उनकी महिमाओं का गायन करते हुए उन्हें जगाया, जिस तरह राजा की सेवा में लगे कविगण प्रातःकाल उसके पास जाकर उसके वीरतापूर्ण कार्यों को सुनाकर, उसे जगाते हैं।

तात्पर्य : सृष्टि के समय महाविष्णु की श्वास से सर्वप्रथम वेद प्रकट होते हैं और वे साकार रूप में उन्हें योगनिद्रा से जगाकर उनकी सेवा करते हैं। सनन्दन के इस कथन से यह अर्थ निकलता है कि सनक तथा अन्य ऋषियों ने उनसे वही प्रश्न पूछा था, जो नारद ने नारायण ऋषि से तथा महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा था। सनन्दन फिर से इस प्रश्न का सन्दर्भ साक्षात् वेदों द्वारा महाविष्णु से पूछे गये प्रश्न से जोड़ते हैं। यद्यपि वेद जानते थे कि सर्वज्ञ होने के कारण भगवान् को उनकी महिमा बताने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु उन्होंने इस अवसर का लाभ उत्साहपूर्वक उनकी प्रशंसा करने के लिए उठाया।

श्रीश्रुतय ऊचुः
जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः ।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते
क्वचिदजयात्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

श्री-श्रुतयः ऊचुः—वेदों ने कहा; जयजय—आपकी जय हो, जय हो; जहि—परास्त करें; अजाम्—माया को; अजित—हे अजित; दोष—दोष उत्पन्न करने के लिए; गृभीत—धारण किये हुए; गुणाम्—पदार्थ के गुण; त्वम्—तुम; असि—हो; यत्—क्योंकि; आत्मना—अपनी मूल स्थिति मे; समवरुद्ध—पूर्ण; समस्त—समस्त; भगः—ऐश्वर्य में; अग—अचर; जगत्—तथा चर; ओकसाम्—भौतिक शरीर वालों के; अखिल—समस्त; शक्ति—शक्तियाँ; अवबोधक—हे जागृत करने वाले; ते—तुम;

क्वचित्—कभी कभी; अजया—अपनी भौतिक शक्ति से; आत्मना—तथा अपनी अन्तरंगा आध्यात्मिक शक्ति से; च—भी; चरतः—व्यस्त रखते हुए; अनुचरेत्—समझ सकता है; निगमः—वेद।

श्रुतियों ने कहा : हे अजित, आपकी जय हो, जय हो, अपने स्वभाव से आप समस्त ऐश्वर्य से परिपूर्ण हैं, अतएव आप माया की शाश्वत शक्ति को परास्त करें, जो बद्धजीवों के लिए कठिनाइयाँ उत्पन्न करने के लिए तीनों गुणों को अपने वश में कर लेती है। चर तथा अचर देहधारियों की समस्त शक्ति को जागृत करने वाले, कभी कभी जब आप अपनी भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के साथ क्रीड़ा करते हैं, तो वेद आपको पहचान लेते हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार साक्षात् वेदों की स्तुतियों के २८ श्लोक (श्लोक १४ से ४१ तक) अट्ठाइस प्रमुख श्रुतियों के मतों को प्रस्तुत करने वाले हैं। ये मुख्य उपनिषद् तथा अन्य श्रुतियाँ ब्रह्म के विविध पक्षों से सम्बद्ध हैं और इनमें से वे श्रुतियाँ सर्वश्रेष्ठ हैं, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शुद्ध अनन्य भक्ति पर बल देती हैं। उपनिषद् उसका निषेध करते हैं, जो सर्वप्रथम भगवान् से पृथक् है और तब उनके कुछ मुख्य गुणों का वर्णन करके हमारा ध्यान भगवान् की ओर आकृष्ट करते हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस स्तुति में सर्वप्रथम आए *जय जय* शब्दों की व्याख्या ''कृपया अपनी सर्वोच्चता प्रकट कीजिये'' के रूप में की है। *जय* शब्द की पुनरुक्ति आदर या हर्षवश हुई है।

भगवान् पूछ सकते हैं, ''मैं अपनी सर्वोच्चता किस तरह प्रकट करूँ?''

श्रुतियाँ इसका उत्तर भगवान् से यह प्रार्थना करते हुए देती हैं कि वे सारे जीवों पर कृपा करके उनके अज्ञान को नष्ट कर दें और उन्हें अपने चरणकमलों की ओर आकृष्ट करें।

भगवान् कहते हैं, ''लेकिन जीवों पर अज्ञान लादने वाली माया उत्तम गुणों से युक्त है (*गृभीत गुणान्*)। तो मैं उसका विरोध क्यों करूँ?''

वेद उत्तर देते हैं, ''ठीक है, लेकिन उसने बद्धजीवों को मोहित करने के लिए तथा झूठे ही भौतिक शरीरों से अपनी पहचान करने के लिए तीनों गुणों को धारण कर रखा है। उसके तीनों गुण—सतो, रजो तथा तमोगुण—दोषयुक्त (*दोष-गृभीत*) हैं, क्योंकि आप उनकी उपस्थिति में प्रकट नहीं होते।''

श्रुतियाँ भगवान् को *अजित* कहती हैं जिसका अर्थ है कि ''केवल आप ही ऐसे हैं, जो माया द्वारा

जीते नहीं जाते, जबकि ब्रह्मा जैसे अन्य लोग अपनी ही त्रुटियों द्वारा परास्त कर दिये जाते हैं।''

भगवान् उत्तर देते हैं, ''लेकिन तुम्हारे पास इसका कौन-सा प्रमाण है कि वह मुझे नहीं जीत पाती?''

''इसका प्रमाण इस तथ्य में निहित है कि आपने अपनी मूल स्थिति में समस्त ऐश्वर्य की सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हैं।''

इस बात पर भगवान् को यह आपत्ति हो सकती है कि जीवों का अज्ञान नष्ट कर देने से ही वे मेरे चरणकमलों में नहीं चले आयेंगे, क्योंकि अज्ञान दूर किये जाने पर भी जीवात्मा भक्ति किये बिना भगवान् को प्राप्त नहीं कर सकता। स्वयं भगवान् का कथन है (*भागवत* ११.१४.२१)—*भक्त्याहमेकया ग्राह्यः*—केवल भक्ति द्वारा मुझे प्राप्त किया जा सकता है।

इस आपत्ति का उत्तर श्रुतियाँ देती हैं, ''हे समस्त शक्तियों को जगाने वाले प्रभु! आप जीवों में बुद्धि तथा इन्द्रियाँ उत्पन्न करके उन्हें कठिन श्रम करने तथा अपने श्रम का फल भोगने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। इसके अतिरिक्त ज्ञान, योग तथा भक्ति के उन्नतिशील मार्गों का अनुसरण करने के लिए उनकी क्षमता को जागृत करते हुए आप उन्हें क्रमशः अपने ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् तीनों पक्षों की ओर अग्रसर होने देते हैं। जब ज्ञान, योग तथा भक्ति प्रौढ़ होते हैं, तो आप जीवों को अपने तीनों पक्षों का साक्षात्कार करने देते हैं।''

यदि भगवान् साक्षात् वेदों के इस कथन का समर्थन करने वाला प्रामाणिक साक्ष्य माँगते तो वेद विनयपूर्वक उत्तर देते, ''हम स्वयं साक्ष्य हैं। कुछ अवसरों पर—जैसे कि अब, सृष्टि के समय—आप अपनी बहिरंगा शक्ति माया के साथ क्रीड़ा करते हैं, जबकि आपकी अन्तरंगा शक्ति सदैव आपके साथ रहती है। वर्तमान के ही जैसे समयों पर जब आपकी सक्रियता बाह्य रूप से प्रकट होती है कि हम वेद आपको आपकी क्रीड़ा में पहचान लेते हैं।''

इस तरह भगवान् के साथ अपने निजी संसर्ग से प्राप्त अधिकार से श्रुतियाँ कर्म, ज्ञान योग तथा भक्ति को विविध साधनों के रूप में प्रयुक्त करती हैं, जिससे बद्धजीव ब्रह्म की खोज में अपनी बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन तथा प्राण का प्रयोग कर सकें।

कई स्थानों पर वेद ब्रह्म के दिव्य साकार गुणों की प्रशंसा करते हैं। निम्नलिखित श्लोक *श्वेताश्वतर*

उपनिषद् (६.११), *गोपालतापनी उपनिषद्* (उत्तर ९७) तथा *ब्रह्म उपनिषद्* (४.१) में आया है—

एको देव: सर्वभूतेषु गूढ:

सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

कर्माध्यक्ष: सर्वभूताधिवास:

साक्षी: चेता: केवलो निर्गुणश्च॥

''एक ही भगवान् उत्पन्न की गई सारी वस्तुओं के भीतर छिपा हुआ है। वह समस्त पदार्थ में व्याप्त है और सारे जीवों के हृदयों के भीतर स्थित है। वह अन्त:वासी परमात्मा के रूप में उनकी भौतिक गतिविधियों का निरीक्षण करता है। इस तरह स्वयं निर्गुण होते हुए वह अद्वितीय साक्षी एवं चेतना देने वाला है।''

ब्रह्म के साकार गुणों का अधिक वर्णन उपनिषदों के निम्नलिखित उद्धरणों में पाया जाता है—*य: सर्वज्ञ स सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तप:* जो सब जानने वाला है, जिससे समस्त ज्ञान की शक्ति आती है—वह सबों में से अधिक ज्ञानी है (*मुण्डक उपनिषद् १.१.९*)। *सर्वस्य वशी सर्वस्येशान:*—वह हर एक का स्वामी तथा नियन्ता है (*बृहदारण्यक उपनिषद् ४.४.२२*); तथा *य: पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या आन्तरो यं पृथिवी न वेद*—वह जो पृथ्वी के भीतर रहता है और उसमें व्याप्त है और जिसे पृथ्वी नहीं जानती (*बृहदारण्यकउपनिषद्* ३.७.३)।

सृष्टि करने में भगवान् की भूमिका का उल्लेख अनेक श्रुति-कथनों में हुआ है। *बृहदारण्यक उपनिषद्* (१.२.४) का कथन है—*सोऽकामयत बहु स्याम्*—उसने इच्छा की कि मैं अनेक हो जाऊँ। *सोऽकामयत* (उसने इच्छा की) का यहाँ यह अर्थ है कि भगवान् का व्यक्तित्व शाश्वत हैं, क्योंकि सृष्टि के भी पूर्व ब्रह्म को इच्छा हुई और इच्छा तो व्यक्तियों का अद्वितीय लक्षण है। *ऐतरेय उपनिषद्* (३.११) में भी इसी तरह का कथन आया है—*स ऐक्षत तत्तेजोऽसृजत*—उसने देखा और उसकी शक्ति ने सृष्टि कर दी। यहाँ पर *तत्तेज:* शब्द भगवान् के अंशरूप महाविष्णु का द्योतक है, जो माया पर दृष्टि डालता है, जिससे भौतिक सृष्टि प्रकट होती है। अथवा *तत्तेज:* से भगवान् के निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप का, उनकी सर्वव्यापक शक्ति, शाश्वत उपस्थिति का द्योतन हो सकता है। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* (५.४०) में वर्णन हुआ है—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-

कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।

तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जो महान् शक्ति से सम्पन्न हैं। उनके दिव्य स्वरूप का प्रकाशमान तेज निर्विशेष ब्रह्म है, जो परम, पूर्ण तथा अनन्त है और जो कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों में असंख्य लोकों (ग्रहों) को उनके पृथक् पृथक् ऐश्वर्यों के समेत प्रदर्शित करता है।"

इस श्लोक का सार-समाहार करते हुए श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

जय जयाजित जह्यगजंगमा-

वृतिमजामुपनीतमृषागुणाम् ।

न हि भवन्तमृते प्रभवन्त्यामी

निगमगीतगुणार्णवता तव॥

"हे अजित! आपकी जय हो, जय हो। कृपा करके अपनी नित्य माया के प्रभाव को परास्त करें, जो समस्त चराचर प्राणियों को आच्छादित करती है और मोह के गुणों पर शासन चलाती है। आपके प्रभाव के बिना ये सारे वैदिक-मंत्र आपका गुणगान दिव्य गुणों के सागर के रूप में करने में असमर्थ रहेंगे।"

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया
यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात् ।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

बृहत्—ब्रह्म के रूप में; उपलब्धम्—अनुभूत; एतत्—यह (जगत); अवयन्ति—वे मानते हैं; अवशेषतया—जगत की सर्वव्यापी नींव के रूप में; यतः—चूँकि; उदय—उत्पत्ति; अस्तम्-अयौ—तथा विलय; विकृतेः—विकार का; मृदि—मिट्टी का; वा—मानो; अविकृतात्—विकार रहित (ब्रह्म); अतः—इसलिए; ऋषयः—ऋषियों ने (जिन्होंने वैदिक मंत्रों का संगलन किया); दधुः—स्थापित किया, रखा; त्वयि—तुम में; मनः—अपने मन; वचन—शब्द; आचरितम्—तथा कर्म; कथम्—कैसे; अयथा—जिस रूप में हैं, उस रूप में नहीं; भवन्ति—हो जाते हैं; भुवि—भूमि पर; दत्त—रखे हुए; पदानि—पग; नृणाम्—मनुष्यों के।

इस दृश्य जगत की पहचान ब्रह्म से की जाती है, क्योंकि परब्रह्म समस्त जगत की अनन्तिम

नींव है। यद्यपि समस्त उत्पन्न वस्तुएँ उनसे उद्‌भूत होती हैं और अन्त में उसी में लीन होती हैं, तो भी ब्रह्म अपरिवर्तित रहता है, जिस तरह कि मिट्टी जिससे अनेक वस्तुएँ बनाई जाती हैं और वे वस्तुएँ फिर उसी में लीन हो जाती हैं, वह अपरिवर्तित रहती है। इसीलिए सारे वैदिक ऋषि अपने विचारों, अपने शब्दों तथा अपने कर्मों को आपको ही अर्पित करते हैं। भला ऐसा कैसे हो सकता है कि जिस पृथ्वी पर मनुष्य रहते हैं, उसे उनके पैर स्पर्श न कर सकें ?

तात्पर्य : इसमें सन्देह हो सकता है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पहचान करते समय सारे वैदिक मंत्र एकमत हैं। आखिर, कुछ मंत्र कहते हैं *इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा*—इन्द्र ही सारे चर-अचर प्राणियों का राजा है (ऋग्वेद १.३२.१५)। और कुछ मंत्र यह कहते हैं *अग्निर्मूर्धा दिवः*—अग्नि ही स्वर्ग का प्रमुख है। तिस पर भी अन्य मंत्र विभिन्न देवताओं को ब्रह्म बतलाते हैं। तो ऐसा प्रतीत होगा कि वेद एक बहु-आस्तिकतावादी सांसारिक दृश्य प्रस्तुत करते हैं।

स्वयं वेद इस संदेह का उत्तर देते हुए इस श्लोक में बतलाते हैं कि ब्रह्माण्ड की सृष्टि का एक ही स्रोत हो सकता है, जिसे ब्रह्म या *बृहत्* कहते हैं, जो सम्पूर्ण जगत में व्याप्त एवं निहित एकमात्र सत्य है। कोई भी एक देवता यथा इन्द्र या अग्नि इस अद्वितीय भूमिका को पूरा नहीं कर सकता, न ही श्रुतियाँ इतनी अज्ञानी हैं कि ऐसा विचार प्रस्तावित करेंगी। जैसाकि यहाँ *त्वयि* शब्द से सूचित होता है :एकमात्र विष्णु ही परम सत्य हैं। इन्द्र तथा अन्य देवताओं की महिमा का वर्णन भले ही विविध प्रकारों से किया जाता है, किन्तु उनमें वही शक्तियाँ पाई जाती हैं, जो श्री विष्णु ने उन्हें प्रदान की हैं।

वैदिक ऋषि समझते हैं कि यह समस्त जगत—जिसमें इन्द्र, अग्नि तथा आँखों, कानों इत्यादि इन्द्रियों से जो भी अनुभवगम्य है सभी सम्मिलित हैं—एक परम ब्रह्म या भगवान् से एकरूप है, जो *बृहत्* कहलाता है, क्योंकि वही *अवशेष* है अर्थात् ''चरम वस्तु जो बची रहती है।'' सृष्टि के समय भगवान् से ही प्रत्येक वस्तु का विस्तार होता है और प्रलय के समय सारी वस्तुएँ उन्हीं में विलीन हो जाती हैं। भौतिक जगत के पूर्व तथा पश्चात् केवल वे ही स्थिर आधार के रूप में विद्यमान रहते हैं, जिन्हें दार्शनिक जन *उपादान* (अवयव कारण) कहते हैं। यद्यपि भगवान् में से असंख्य रूप उद्‌भूत होते हैं, किन्तु वे सदा अपरिवर्तित रहते हैं—इसी विचार को श्रुतियों ने यहाँ *अविकृतात्* शब्द से द्योतित किया है।

मृदि वा शब्दों में (जैसा मिट्टी के उदाहरण में) एक प्रसिद्ध रूपक निहित है, जिसे उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से *छान्दोग्य उपनिषद्* (६.४.१) में कहा था *वाचारंभनं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्*—भौतिक जगत की वस्तुएँ केवल नाम के रूप में—जिसे भाषा के आधार पर विकार कहते हैं—विद्यमान रहती हैं, जबकि मुख्य अवयव कारण (उपादान) यथा मिट्टी जिससे बर्तन बनाये जाते हैं असली सत्य है। मिट्टी का लोंदा विभिन्न बर्तनों, मूर्तियों इत्यादि का उपादान है, किन्तु मिट्टी ही अपरिवर्तित सार है। अन्ततोगत्वा बर्तन तथा अन्य वस्तुएँ नष्ट होकर उसी मिट्टी में मिल जायेंगी जिससे वे बनी थीं। इसी प्रकार भगवान् सम्पूर्ण अवयव कारण हैं फिर भी वे विकार से सदैव अस्पृश्य रहते हैं। यही सार है इस कथन का *सर्वं खल्विदं ब्रह्म* (छान्दोग्य उपनिषद् ३.१४.१)। इस रहस्य पर आश्चर्य प्रकट करते हुए महान् भक्त गजेन्द्र ने प्रार्थना की थी—

नमो नमस्तेऽखिलकारणाय

निष्कारणायाद्‌भुतकारणाय ॥

"समस्त सृष्टि के उद्‌गम, आपको बारम्बार नमस्कार है। आप समस्त कारणों के अचिन्त्य कारण हैं और आपका कोई अन्य कारण नहीं है।" (*भागवत* ८.३.१५)

भौतिक प्रकृति को पाश्चात्य विज्ञान में तथा वेदों में भी प्राय: सृष्टि का उपादान—अवयव कारण—माना जाता है। किन्तु इससे भगवान् के अन्तिम कारण होने के तथ्य का विरोध नहीं होता, क्योंकि प्रकृति उनकी शक्ति है और स्वयं परिवर्तनशील है। *श्रीमद्‌भागवत* (११.२४.१९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

प्रकृतिर्यस्योपादानम् आधार: पुरुष: पर: ।

सतोऽभिव्यञ्जक: कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम् ॥

"भौतिक ब्रह्माण्ड सत्य है, जिसका मूल अवयव तथा अन्तिम स्थिति प्रकृति है। महाविष्णु प्रकृति के आधार हैं, जो कालशक्ति द्वारा प्रकट होती है। इस तरह प्रकृति, सर्वशक्तिमान विष्णु तथा काल—ये मुझ परम सत्य से पृथक् नहीं हैं।" यद्यपि प्रकृति में विकार आता है, किन्तु परम पुरुष भगवान् में नहीं आता। प्रकृति भगवान् की बहिरंगा शक्ति है, किन्तु भगवान् के एक दूसरी शक्ति—अन्तरंगा शक्ति—है, जो *स्वरूपभूता* है अर्थात् उनसे सर्वथा अभिन्न है। भगवान् की अन्तरंगा शक्ति उन्हीं की तरह

अपरिवर्तनशील है।

इसीलिए वेदों के मंत्र तथा वे ऋषि जिन्होंने इन मंत्रों को ध्यान में प्राप्त किया है और मानव कल्याण के लिए जिनका प्रसार किया है, अपना ध्यान मूलत: भगवान् की ओर देते हैं। वैदिक ऋषि अपने मन तथा वचनों के कार्यकलापों को—अर्थात् अपने वचनों के आन्तरिक एवं शाब्दिक अर्थों (अभिद्या-वृत्ति) को—सर्वप्रथम भगवान् को ही अर्पित करते हैं और गौण रूप में ही प्रकृति के भिन्न विकारों यथा इन्द्र आदि देवताओं को अर्पित करते हैं।

जिस तरह मनुष्य के पग चाहे वे कीचड़, पत्थर या ईंट पर पड़ें, पृथ्वी को छुए बिना नहीं रहते, उसी तरह वेद जो भी भौतिक सृष्टि के विषय में चर्चा करते हैं उसका सम्बन्ध परम सत्य से होता है। संसारी साहित्य सीमित घटनाओं का ही वर्णन करता है और इसके विषयों का संपूर्ण वास्तविकता से सम्बन्ध की उपेक्षा करता है, जबकि वेदों की दृष्टि सदैव ब्रह्म पर रहती है। *छान्दोग्य उपनिषद्* से इसकी पुष्टि होती है—*मृत्तिकेत्येव सत्यम्* तथा *सर्वं खल्विदं ब्रह्म*—वास्तविकता की पूरी पहचान तभी होती है, जब प्रत्येक वस्तु को अस्तित्व के लिए ब्रह्म पर आश्रित देखा जाता है। एकमात्र ब्रह्म सत्य है—इसलिए नहीं कि इस जगत में हम जो कुछ देखते हैं वह सत्य नहीं हैं, अपितु ब्रह्म प्रत्येक वस्तु का चरम अन्तिम कारण है। इस तरह *मृत्तिकेत्येव सत्यम्* में आये शब्द *सत्यम्* की परिभाषा एक अन्य प्रसंग में स्वयं भगवान् कृष्ण ने ''उपादान'' के रूप में की है—

यद् उपादाय पूर्वस्तु भावो विकुरुते परम्।
आदिरन्तो यदा यस्य तत् सत्यमभिधीयते॥

''एक आवश्यक अवयव से बनी हुई भौतिक वस्तु एक अन्य भौतिक वस्तु को विकार के माध्यम से जन्म देती है। इस तरह एक सृजित वस्तु दूसरी सृजित वस्तु का कारण तथा आधार बनती है। कोई वस्तु इसलिए असली (सत्य) कही जा सकती है, क्योंकि इसमें उस वस्तु का मूलभूत स्वभाव होता है, जो इसका कारणस्वरूप होता है।'' (*भागवत* ११.२४.१८)

श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* में *ब्रह्म* शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है, ''ब्रह्म शब्द सबसे महान् तथा प्रत्येक जीव के पालनकर्ता का सूचक है। निर्विशेषवादी आकाश की महानता की ओर आकृष्ट होते हैं किन्तु अपनी अल्पज्ञता के कारण ही वे श्रीकृष्ण की महानता की ओर आकृष्ट नहीं हो

पाते। हम अपने व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति विशेष की महानता द्वारा आकृष्ट होते हैं, किन्तु किसी पर्वत की महानता द्वारा नहीं। वस्तुतः ब्रह्म शब्द का प्रयोग केवल श्रीकृष्ण के लिए ही किया जा सकता है। अतएव *भगवद्गीता* में अर्जुन ने स्वीकार किया है कि श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं अर्थात् वे प्रत्येक वस्तु के परम आश्रय हैं।

अपने अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्तियों, अनन्त बल, अनन्त प्रभाव, अनन्त सौन्दर्य तथा अनन्त त्याग के कारण ही श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं। अतएव ब्रह्म शब्द केवल श्रीकृष्ण के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है। अर्जुन इस तथ्य की पुष्टि करता है कि श्रीकृष्ण के दिव्य शरीर से उद्भूत किरणों के रूप में तेज ही निराकार ब्रह्म है, अतएव श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। प्रत्येक वस्तु ब्रह्म पर आश्रित है किन्तु ब्रह्म श्रीकृष्ण पर आश्रित है। अतएव श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं। भौतिक तत्त्वों को श्रीकृष्ण की निम्न (कनिष्ठ) शक्तियों के रूप में माना जाता है, क्योंकि उनकी अन्योन्य क्रिया से सृष्टि का निर्माण होता है, कृष्ण पर टिकी रहती है तथा प्रलय के बाद श्रीकृष्ण की सूक्ष्म शक्ति के रूप में उनके शरीर में पुनः प्रवेश करती है। अतएव सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्रलय दोनों के कारण श्रीकृष्ण हैं।''

सारांश रूप में श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

द्रुहिणवह्निरवीन्द्रमुखामरा

जगदिदं न भवेत् पृथगुत्थितम्।

बहुमुखैरपि मन्त्रगणैरज-

स्त्वमुरुमूर्तिरतो विनिगद्यसे॥

''शिव, अग्नि, सूर्य, इन्द्र इत्यादि देवता तथा ब्रह्माण्ड के सारे जीव आपसे स्वतंत्र रहकर उत्पन्न नहीं होते। यद्यपि वेद मंत्र विविध दृष्टियों से बोलते हैं किन्तु वे सभी विविध रूपों में प्रकट होने वाले अजन्मा आप ही के बारे में कहते हैं।''

इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल-
क्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः ।
किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः
परम भजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; तव—तुम्हारा; सूरयः—ज्ञानी सन्त; त्रि—तीन (लोकों के); अधिपते—हे स्वामी; अखिल—समस्त; लोक—लोकों का; मल—दूषण; क्षपण—उन्मूल करने वाले; कथा—चर्चा के; अमृत—अमृत; अब्धिम्—समुद्र में; अवगाह्य—डुबकी लगाकर; तपांसि—अपने कष्टों को; जहुः—त्याग दिया है; किम् उत—क्या कहा जा सकता है; पुनः—और भी; स्व—अपनी; धाम—शक्ति से; विधुत—दूर किया हुआ; आशय—मनों के; काल—तथा समय के; गुणाः—(अवांछित) गुण; परम—हे सर्वश्रेष्ठ; भजन्ति—पूजा करते हैं; ये—जो; पदम्—आपके असली स्वभाव को; अजस्र—निर्बाध; सुख—सुख का; अनुभवम्—अनुभव।

अतएव हे त्रिलोकपति, बुद्धिमान लोग आपकी कथाओं के अमृतमय सागर में गहरी डुबकी लगाकर समस्त क्लेशों से छुटकारा पा लेते हैं, क्योंकि आपकी कथाएँ ब्रह्माण्ड के सारे दूषण को धो डालती हैं। तो फिर उन लोगों के बारे में क्या कहा जाय, जिन्होंने आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा अपने मनों को बुरी आदतों से और स्वयं को काल से मुक्त कर लिया है और, हे परम पुरुष, आपके असली स्वभाव की, जिसके भीतर निर्बाध आनन्द भरा है, पूजा करने में समर्थ हैं?

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार पिछले श्लोक में उन श्रुतियाँ ने जिनके ब्रह्म-विषयक वर्णन निर्विशेष लगे हों अपने असली प्रयोजन को स्पष्ट कर दिया। अब इस श्लोक में वे श्रुतियाँ जो अपना ध्यान दिव्य भगवान् पर ही केन्द्रित करती हैं और उन्हीं की दिव्य लीलाओं का वर्णन करती हैं उनकी प्रशंसा कर रही हैं।

चूँकि सारे वेद भगवान् की श्रेष्ठता *सर्वकारण कारणं* के रूप में घोषित करते हैं, अतएव विवेकशील व्यक्तियों को चाहिए कि उन भगवान् की पूजा करना स्वीकार करें। उनके महिमाओं रूपी समुद्र में गोता लगाकर बुद्धिमान भक्त समस्त जीवों के कष्टों को भगाने में सहायता करते हैं और भौतिक जीवन के प्रति अपनी आसक्ति को शिथिल बनाते हैं। ये प्रगतिशील भक्त धीरे धीरे सारी भौतिक आसक्तियाँ त्याग देते हैं और कर्म, ज्ञान तथा योग की कष्टप्रद तपस्या के प्रति, जो किसी समय उनकी रुचि थी, उसे समाप्त कर देते हैं।

इन भक्तों से भी परे श्रुतियाँ हैं, जो दिव्य सत्य की पारखी हैं और भगवान् के यश रूपी अमृतमय समुद्र में गोता लगाकर इसका सम्मान करती हैं। भगवान् के ये परिपक्व भक्त आशातीत सिद्धि प्राप्त करते हैं। भगवान् इनके निष्ठावान् प्रयासों से आदान-प्रदान करके इन्हें शक्ति प्रदान करते हैं कि ये उनके साकार रूप की अनुभूति कर सकें। प्रसन्नतापूर्वक भगवान् की अन्तरंगा लीलाओं तथा वातावरण का स्मरण करके ये मानसिक दूषण के अन्तिम सूक्ष्म चिह्नों से तथा रोग एवं बुढ़ापे की दुर्निवार पीड़ा के

प्रति संवेदनशीलता से सर्वथा स्वत: मुक्त हो जाते हैं।

भक्ति की शुद्धि करने की शक्ति का उल्लेख करते हुए श्रुतियाँ कहती हैं *तद् यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवम् एवंविधि पापं कर्म न श्लिष्यते*—जिस तरह कमल के पत्ते पर जल नहीं ठहरता उसी तरह पापपूर्ण कर्म उस पर नहीं ठहरते, जो सत्य को इस तरह से जानता है। *शतपथ ब्राह्मण* (१४.७.२८), *तैत्तिरीय ब्राह्मण* (३.१२.९.८), *बृहदारण्यक उपनिषद्* (४.४.२८) तथा *बौधायन-धर्म-शास्त्र* (२.६.११.३०) सभी एकमत हैं कि *न कर्मणा लिप्यते पापकेन*—इस तरह पापपूर्ण कर्म द्वारा दूषित होने से बचा जा सकता है।

ऋग्वेद (१.१५४.१) में भगवान् की लीलाओं का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—*विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं य: पार्थिवानि विममे रजांसि*—जो कोई संसार-भर के सभी धूल-कणों को गिन सकता है केवल वही भगवान् विष्णु के वीरतापूर्ण कार्यों को पूरी तरह प्रतिपादित कर सकता है। अनेक श्रुति मंत्रों में भगवद्भक्ति की प्रशंसा की गई है। यथा—*एको वशी सर्वगो येऽनुभजन्ति धीरास्। तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्*—वे ही एक सर्वव्यापक प्रभु तथा नियन्ता हैं, केवल वे चतुर आत्माएँ, जो उनकी पूजा करती हैं शाश्वत सुखपाती हैं, अन्य आत्माएँ नहीं।

इस प्रसंग में श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

सकलवेदगणेरितसद्गुणस्त्वम्

इति सर्वमनीषिजना रता:।

त्वयि सुभद्रगुणश्रवणादिभिस्तव

पदस्मरणेन गतक्लमा:॥

"चूँकि सारे वेद आपके दिव्य गुणों का वर्णन करते हैं इसलिए सारे विचारशील व्यक्ति आपके सर्वमंगलकारी गुणों के सुनने और उनका कीर्तन करने की ओर आकर्षित होते हैं। इस तरह आपके चरणकमलों का स्मरण करके वे भौतिक दुख से मुक्त हो जाते हैं।"

दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा
महदहमादयोऽण्डमसृजन्यदनुग्रहतः ।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः

सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

दृतयः—धौंकनी; इव—सदृश; श्वसन्ति—श्वास लेते हैं; असु-भृतः—जीवित; यदि—यदि; ते—तुम्हारे; अनुविधाः—स्वामि-भक्त अनुयायी; महत्—सम्पूर्ण भौतिक शक्ति; अहम्—मिथ्या अहंकार; आदयः—तथा सृष्टि के अन्य तत्त्व; अण्डम्—ब्रह्माण्ड को; असृजन्—उत्पन्न किया; यत्—जिसकी; अनुग्रहतः—कृपा से; पुरुष—जीविका; विधः—विशिष्ट स्वरूपों के अनुसार; अन्वयः—जिनका प्रवेश; अत्र—इनमें से; चरमः—चरम; अन्न-मय-आदिषु—अन्नमय नामक अभिव्यक्तियों में; यः—जो; सत्-असतः—स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थ से; परम्—पृथक्; त्वम्—तुम; अथ—और भी आगे; यत्—जो; एषु—इनमें से; अवशेषम्—निहित; ऋतम्—वास्तविकता।

यदि वे आपके श्रद्धालु अनुयायी बन जाते हैं, तभी वे साँस लेते हुए वास्तव में जीवित हैं, अन्यथा उनका साँस लेना धौंकनी जैसा है। यह तो आपकी एकमात्र कृपा ही है कि महत् तत्त्व तथा मिथ्या अहंकार से प्रारम्भ होने वाले तत्त्वों ने इस ब्रह्माण्ड रूपी अंडे को जन्म दिया। अन्नमय इत्यादि स्वरूपों में आप ही चरम हैं, जो जीव के साथ भौतिक आवरणों में प्रवेश करके उसके ही जैसे स्वरूप ग्रहण करते हैं। स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक स्वरूपों से भिन्न, आप उन सबों में निहित वास्तविकता हैं।

तात्पर्य : उसके लिए जीवन प्रयोजनरहित है, जो अपने अत्यन्त हितैषी के प्रति अज्ञानी बना रहता है और उसकी पूजा नहीं करता। ऐसे व्यक्ति का श्वास लेना लुहार की धौंकनी के साँस लेने जैसा है। बद्धजीव के लिए मानव-जीवन की भेंट एक सुअवसर है, लेकिन अपने स्वामी से मुख मोड़ कर जीव आध्यात्मिक आत्महत्या कर लेता है। *श्री ईशोपनिषद* (३) के शब्दों में—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

"आत्मा का हन्ता, चाहे वह जो कोई भी हो, उसे श्रद्धाविहीन अंधकार तथा अज्ञान से पूर्ण लोकों के नाम से अभिहित लोकों में प्रवेश करना होगा।" *असूर्याः* का अर्थ है "दानवों द्वारा प्राप्त किया जाना" और दानव ऐसे व्यक्ति हैं, जिनमें भगवान् विष्णु के प्रति कोई भक्ति नहीं होती। *अग्नि पुराण* में यह परिभाषा दी गई है—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।

विष्णुभक्तिपरो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः ॥

"इस संसार में दो प्रकार की उत्पन्न प्राणी हैं दैवी तथा दानवी। जो भगवान् विष्णु की भक्ति में लगे रहते हैं, वे दैवी हैं और जो ऐसी सेवा के विरोधी हैं, वे दानवी हैं।"

इसी तरह बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है न चेद् अवेदीन् महती विनष्टि:... ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुखम् एवोपयन्ति—यदि कोई व्यक्ति ब्रह्म को नहीं जानता तो उसको सर्वनाश देखना पड़ता है...जो ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं, वे अमर हो जाते हैं, किन्तु अन्य लोगों को अवश्य ही दुख भोगना पड़ता है। अज्ञान से जनित कष्ट से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को अपनी कृष्णचेतना को जागृत करना चाहिए, किन्तु जिस विधि से इसे किया जाता है उसका कठिन होना आवश्यक नहीं है, जैसाकि भगवान् कृष्ण हमें *भगवद्गीता* (९.३४) में आश्वासन देते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवम् आत्मानं मत्परायण: ॥

''अपने मन को सदैव मेरा चिन्तन करने में लगाओ, मेरे भक्त बनो, मुझे ही नमस्कार करो तथा मेरी पूजा करो। पूरी तरह से मुझमें लीन होने पर तुम अवश्य ही मेरे पास आओगे।'' अयोग्यताओं तथा दुर्बलताओं के बावजूद मनुष्य को स्वेच्छा से *अनुविध* अर्थात् भगवान् का विश्वासपात्र तथा विश्वासी दास बन जाना चाहिए। *कठ उपनिषद्* की घोषणा है (२.२.१३)

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्

एको बहूनां यो विदधाति कामान्।

तं पीठगं येऽनुपश्यन्ति धीरास्

तेषां शान्ति: शाश्वती नेतरेषाम् ॥

''समस्त नित्य एवं चेतन जीवों में एक ऐसा है, जो हर एक की आवश्यकताएँ पूरी करता है। जो बुद्धिमान आत्माएँ उनके धाम में उनकी पूजा करती हैं, उन्हें शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है। अन्य को नहीं।''

क्या जीवित है और क्या मृत है? भौतिकतावादी अभक्तों के शरीर तथा मन जीवन के लक्षण तो प्रदर्शित करते हैं, लेकिन यह स्वरूप भ्रामक है। वस्तुत: बद्धजीव का अपने शारीरिक अस्तित्व पर कोई नियंत्रण नहीं रहता। अपनी इच्छा के विरुद्ध वह मल त्यागता है, समय समय पर बीमार पड़ता है और वृद्ध होकर अन्त में मर जाता है। वह अपने मन में अनिच्छित ही क्रोध, लालसा तथा शोक का भोग करता है। भगवान् कृष्ण इस स्थिति को *यन्त्रारूढानि मायया* (*भगवद्गीता* १८.६१) कहते हैं अर्थात्

यात्री-यंत्र में असहाय-सा आरूढ़ होना। आत्मा तो निस्सन्देह जीवित रहता है और इसका जीना अटल है, लेकिन अपने अज्ञान के कारण आन्तरिक जीवन प्रच्छन्न तथा विस्मृत रहता है। इसके स्थान पर बाह्य मन तथा शरीर प्रकृति के गुणों के आदेश पालन करते हैं, जिससे मनुष्य आत्मा की सुप्त आवश्यकताओं से असम्बद्ध होकर कर्म करता है। *श्वेताश्वतर उपनिषद्* (२.५) माया के इन भुलक्कड़ बन्दियों को पुकार पुकार कर कहती है—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्त पुत्रा

आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।

''हे अमरता के पुत्रो, जो कभी दैवी लोक में वास करते थे, सुनो!''

अतएव एक ओर सामान्यतया जिसे सजीव माना जाता है यह भौतिक शरीर वास्तव में मृत यंत्र है, जो प्रकृति के गुणों द्वारा संचालित है। दूसरी ओर भौतिकतावादी जिसे शोषण के लिए जड़ पदार्थ मानता है, वह अज्ञात अनिवार्यता से सजीव बुद्धि से सम्बन्धित होता है, जो उसकी अपनी बुद्धि से अधिक शक्तिशाली है। प्रकृति के पीछे जो बुद्धि कार्य करती है, उसे वैदिक सभ्यता उन देवताओं से सम्बन्धित मानती है, जो विविध तत्त्वों के अधिष्ठाता हैं और अन्त में इसे स्वयं भगवान् से सम्बन्धित मानती है। वस्तुतः पदार्थ किसी सजीव शक्ति की प्रेरणा तथा निर्देशन के बिना ठीक से कार्य नहीं कर सकता। जैसाकि कृष्ण ने *भगवद्गीता* (९.१०) में कहा है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते॥

''हे कुन्ती-पुत्र! यह भौतिक प्रकृति, जो कि मेरी एक शक्ति है मेरी अध्यक्षता में कार्य कर रही है और समस्त जड़ तथा चेतन प्राणियों को उत्पन्न करती है। उसके शासन के अन्तर्गत ही यह जगत बारम्बार उत्पन्न होता है और नष्ट होता है।''

सृष्टि के प्रारम्भ में महाविष्णु ने सुप्त प्रकृति पर दृष्टि डाली। अतः जागकर सूक्ष्म प्रकृति अधिक संहत स्वरूपों को जन्म देने लगी पहले पहल *महत्* बना, फिर प्रकृति के तीनों गुणों के संयोग से *अहं* और तब धीरे धीरे विभिन्न तत्त्व यथा बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ तथा पाँच भौतिक तत्त्व और उनके अधिष्ठाता देवता बने। किन्तु पृथक् रूप पा चुकने के बाद भी ये देवता जो विविध तत्त्वों के अधिष्ठाता हैं, तब

तक दृश्य जगत का निर्माण नहीं कर पाये, जब तक भगवान् विष्णु ने अपनी विशेष कृपा प्रदान करके एक बार फिर अन्तराक्षेप नहीं किया। इसका वर्णन *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कंध (३.५.३८-३९) में मिलता है—

एते देवा: कला विष्णो: कालमायांशलिंगिन:।

नानात्वात् स्वक्रियानीशा: प्रोचु: प्राञ्जलयो विभुम्॥

देवा ऊचु:

ननाम ते देव पदारविन्दं प्रपन्नतापोपशमातपत्रम्।

यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरुसंसारदु:खं बहिरुत्क्षिपन्ति॥

''इन भौतिक तत्त्वों के अधिष्ठाता देव भगवान् विष्णु के शक्त्याविष्ट अंश हैं। वे बहिरंगा शक्ति के अधीन शाश्वत काल द्वारा देह पाते हैं और वे उनके विभिन्नांश हैं। जब उन्हें विश्व के विविध कार्य सौंप दिये गये और वे उन्हें नहीं कर पाये, तो उन्होंने भगवान् की सम्मोहक स्तुति की। देवताओं ने कहा, ''हे प्रभु! आपके चरणकमल शरणागतों के लिए छाते के समान हैं, जो समस्त भौतिक क्लेशों से उनकी रक्षा करते हैं। सारे ऋषि-मुनि उसी की छाया में समस्त भौतिक क्लेशों से छूट जाते हैं। अतएव हम आपके चरणकमलों को सादर नमस्कार करते हैं।''

एकत्र हुए उन तत्त्वों के देवों की प्रार्थना सुनकर भगवान् ने उन पर कृपा प्रदर्शित की (*भागवत* ३.६.१-३)

इति तासां स्वशक्तीनां सतीनाम् असमेत्य स:।

प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशाम्य गतिमीश्वर:॥

कालसंज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिम् उरुक्रम:।

त्रयोविंशति तत्त्वानां गणं युगपद् आविशत्॥

सोऽनुप्रविष्टो भगवांश्चेष्टारूपेण तं गणम्।

भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म प्रबोधयन्॥

''इस तरह भगवान् ने अपनी शक्तियों यथा *महत् तत्त्व* के संयोग न होने से ब्रह्माण्ड के सृजन-कार्य को ठप होते सुना। तब परम शक्तिमान भगवान् अपनी बहिरंगा शक्ति देवी काली सहित तेईसों

तत्त्वों के भीतर एक ही समय प्रविष्ट हुए। यह काली देवी ही समस्त तत्त्वों को एक में मिलाने वाली है। इस तरह जब भगवान् अपनी शक्ति के द्वारा तत्त्वों में प्रविष्ट हो गये, तो सारे जीव जागकर विभिन्न कर्मों में लग गये, जिस तरह कोई व्यक्ति निद्रा से जाग कर अपना कार्य करने लगे।''

श्रील प्रभुपाद ने *भगवान् श्रीकृष्ण* में आत्मा को आच्छादित करने वाले अहंकार के पाँच कोशों की व्याख्या की है, ''शरीर के भीतर जीवन के पाँच विभिन्न विभाग हैं, जो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय नाम से जाने जाते हैं। [इनका उल्लेख *तैत्तिरीय उपनिषद्* के *ब्रह्मानन्द वल्ली* में हुआ है]। जीवन के प्रारम्भ में प्रत्येक प्राणी भोजन के प्रति सचेष्ट रहता है। बालक अथवा पशु केवल उत्तम भोजन पा कर ही सन्तुष्ट होते हैं। चेतना का यह स्तर, जिसमें भर-पेट भोजन ही ध्येय होता है, *अन्नमय* कहा जाता है। अन्न का अर्थ है भोजन। इसके बाद जीवित रहने की चेतना आती है। यदि बिना किसी आक्रमण या संहार के व्यक्ति अपना जीवन बिता सकता है, तो वह स्वयं को सुखी मानता है। इस स्थिति को *प्राणमय* अर्थात् अपने अस्तित्व के प्रति चेतना कहते हैं। इसके पश्चात् जब व्यक्ति मानसिक स्तर पर जीवित रहता है, तो उस चेतना को *मनोमय* कहते हैं। भौतिक सभ्यता मूलत: अन्नमय, प्राणमय तथा मनोमय—इन्हीं तीन कोशों पर आधारित है। सभ्य व्यक्तियों की प्रथम चिन्ता आर्थिक विकास, द्वितीय चिन्ता विनाश से सुरक्षा और इसके बाद मानसिक विचार की चेतना होती है, जो कि जीवन मूल्यों के प्रति दार्शनिक पक्ष है।

यदि दार्शनिक जीवन की विकास-प्रक्रिया द्वारा वह बौद्धिक जीवन के स्तर पर पहुँच जाता है और यह समझ पाता है कि वह यह भौतिक शरीर नहीं अपितु आत्मा है, तो वह *विज्ञानमय* अवस्था को प्राप्त होता है। तब आध्यात्मिक जीवन के विकास द्वारा वह भगवान् या परमात्मा को समझ पाता है। जब व्यक्ति भगवान् से अपना सम्बन्ध विकसित कर लेता है और भक्ति करता है, तो जीवन की वह अवस्था कृष्णभावनामृत अथवा *आनन्दमय* अवस्था कहलाती है। *आनन्दमय* ज्ञान तथा शाश्वतता का आनन्दपूर्ण जीवन है। जैसाकि *वेदान्त सूत्र* में कहा गया है—*आनन्दमयोऽभ्यासात्।* परब्रह्म तथा ब्रह्म अथवा भगवान् तथा जीव दोनों ही स्वभाव से आनन्दमय हैं। जब तक जीव अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय नामक चार निम्न कोशों में रहते हैं, तब तक उन्हें जीवन की भौतिक अवस्था में स्थित माना जाता है। किन्तु जैसे ही वह आनन्दमय स्थिति को प्राप्त कर लेता है, वह मुक्तात्मा बन जाता है।

भगवद्गीता में इस आनन्दमय स्थिति को *ब्रह्मभूत* स्थिति कहा गया है। इस स्थिति में कोई उद्वेग अथवा कोई तृष्णा नहीं रह जाती। इस स्थिति का प्रारम्भ तब होता है, जब व्यक्ति समस्त जीवों पर समभाव रखने लगता है। इसके बाद इसका विस्तार कृष्णभावनामृत स्थिति में होता है, जिसमें व्यक्ति सदैव भगवत्सेवा के लिए लालायित रहता है। भक्ति में आगे बढ़ने की यह लालसा भौतिक जगत में इन्द्रियतृप्ति की लालसा जैसी नहीं होती। दूसरे शब्दों में, आध्यात्मिक जीवन में भी लालसा रहती है, किन्तु वह निर्मल हो जाती है। जब हमारी इन्द्रियाँ निर्मल हो जाती हैं, तो वे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय समस्त भौतिक स्थितियों से मुक्त हो जाती हैं और वे कृष्णभावनामृत के आनन्दमय जीवन में अर्थात् आनन्दमय नामक सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त होती हैं।

मायावादी दार्शनिक आनन्दमय स्थिति को परब्रह्म में लीन होने की स्थिति कहते हैं। उनके लिए आनन्दमय का अर्थ है : परमात्मा तथा जीवात्मा का तादात्म्य। किन्तु वास्तविक तथ्य यह है कि एकात्म हो जाने का अर्थ परब्रह्म में समा जाना और अपना व्यक्तिगत अस्तित्व खोना नहीं है। आध्यात्मिक अस्तित्व में लीन होने का अर्थ है कि जीव अपनी गुणात्मक एकता परमेश्वर के सत्-चित् गुणों के साथ समझ लेता है। वह समझ जाता है कि शाश्वतता तथा ज्ञान जैसे परमेश्वर के गुण उसमें भी हैं। वास्तविक आनन्दमय स्थिति तभी प्राप्त होती है, जब व्यक्ति भक्ति में संलग्न होता है। इस तथ्य की पुष्टि *भगवद्गीता* में की गई है। *मद्भक्तिं लभते पराम्*—ब्रह्मभूत आनन्दमय स्थिति तभी पूर्ण होती है, जब परमात्मा तथा अधीनस्थ जीवात्माओं के मध्य प्रेम का आदान-प्रदान होता है। जब तक व्यक्ति जीवन के इस आनन्दमय स्तर को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक उसका श्वास लेना लुहार की धौंकनी के श्वास लेने के समान है। उसकी आयु वृक्ष की आयु की तरह है और वह निम्नतर पशुओं जैसे ऊँट, शूकर तथा कुत्तों से किसी भाँति श्रेष्ठ नहीं है।''

माया के कोशों के भीतर जीव के साथ रहते हुए भी परमात्मा जीव की तरह कर्म के पाश से बँधा नहीं रहता। इन कोशों के साथ परमात्मा का सम्बन्ध वैसे ही रहता है, जैसे चन्द्रमा और वृक्ष की कुछ शाखाओं के बीच, जिनमें से चन्द्रमा दिखता है, होता है। परमात्मा *सदसतः परम्* अर्थात् अन्नमय आदि के सूक्ष्म तथा स्थूल रूपों से परे है, यद्यपि वह उनके भीतर समस्त कर्मों के साक्षी रूप में प्रवेश करता है। अन्तिम कारण के रूप में एक तरह से परमात्मा सृष्टि के व्यक्त पदार्थों से अभिन्न है, किन्तु उसकी

आदि पहचान (*स्वरूप*) पृथक् रहती है। इस दूसरे अर्थ में वह एकमात्र आनन्दमय है, जो कि पाँच कोशों में अन्तिम है। इसीलिए श्रुतियाँ उसे यहाँ पर *अवशेषम्* कहकर पुकारती हैं। *तैत्तिरीय उपनिषद्* में भी (२.७) यही बात कही गई है *रसो वै सः।* परमेश्वर अपने भीतर *रस* का आनन्द लेते हैं, जो कि भक्ति-रस के विनिमय स्वरूप है। रसों का कार्य अभिन्न अंगस्वरूप सिद्धजीवों का उसमें सम्मिलित होना है। *रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति*—वह साक्षात् रस है और जीव, जो इस रस की अनुभूति करता है पूर्णतया आनन्दमय हो जाता है। अर्थात् साक्षात् वेदों द्वारा इस श्लोक में कहे गये शब्दों के रूप में परमात्मा *ऋतम्* है, जिसकी व्याख्या श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने ''महर्षियों द्वारा अनुभूत'' के रूप में की है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के मतानुसार समस्त प्रामाणिक शास्त्रों का अन्तिम शब्द (*सर्वान्तिम श्रुति*) यह नीतिवाक्य—*रसो वै सः*—है, जो भगवान् श्रीकृष्ण के प्रसंग में दिव्य आनंद के अनंत प्रसारण के रूप में प्रदर्शित होता है (*सर्ववृहत्तमानन्द*)। *गोपालतापनी उपनिषद्* (*उत्तर* ९६) में कहा गया है—*योऽसौ जाग्रत-स्वप्न सुषुप्तिम् अतीत्य तुर्यातीतो गोपालः*—गोप कृष्ण न केवल जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति की भौतिक चेतना को लाँघने वाला है अपितु शुद्ध आध्यात्मिक चेतना के चौथे क्षेत्र को भी लाँघ जाता है। आनन्दमय परमात्मा आदि गोविन्द का एक पक्ष है, जैसाकि उन्होंने स्वयं कहा है *विष्टभ्याहम् इदं कृत्स्नम् एकांशेन स्थितो जगत्*—मैं अपने एक अंश मात्र से इस समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त हूँ और इसका पालन करता हूँ (*भगवद्गीता* १०.४२)।

इस प्रकार श्रुतियाँ बड़ी ही विद्वतता से कहती हैं कि ईश्वर के अनेक साकार रूपों में भी कृष्ण सर्वोच्च हैं। यह समझते हुए नारद मुनि आगे चलकर भगवान् कृष्ण की स्तुति *नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलकीर्तये* (श्लोक ४६) शब्दों द्वारा करते हैं, यद्यपि वे भगवान् नारायण ऋषि के समक्ष खड़े हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी इस श्लोक की टीका निम्नलिखित स्तुति के साथ समाप्त करते हैं—

नरवपुः प्रतिपाद्य यदि त्वयि

श्रवणवर्णनसंस्मरणादिभिः।

नरहरे न भजन्ति नृणाम् इदं

दृतिवद् उच्छ्वसितं विफलं तत: ॥

"हे नरहरि! जिन लोगों ने यह मनुष्य-जीवन प्राप्त किया है, यदि वे आपका श्रवण, कीर्तन, स्मरण तथा अन्य भक्ति-कार्य करके आपकी पूजा करने से चूक जाते है, तो वे व्यर्थ ही जीवित हैं और धौंकनी के समान ही श्वास लेते रहते हैं।"

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृश:
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम् ।
तत उदगादनन्त तव धाम शिर: परमं
पुनरिह यत्समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

उदरम्—पेट; उपासते—पूजते हैं; ये—जो; ऋषि—ऋषियों की; वर्त्मसु—मानक विधियों के अनुसार; कूर्प—स्थूल; दृश:—उनकी दृष्टि; परिसर—जिससे सारी प्राणिक शाखाएँ (नाड़ियाँ) फूटती हैं; पद्धतिम्—शिरोविन्दु; हृदयम्—हृदय; आरुणय:—आरुणि ऋषिगण; दहरम्—सूक्ष्म; तत:—तब से; उदगात्—(आत्मा) ऊपर उठता है; अनन्त—हे अनन्त; तव—तुम्हारा; धाम—प्रकट होने का स्थान; शिर:—सिर; परमम्—सर्वोच्च गन्तव्य; पुन:—फिर; इह—इस जगत में; यत्—जो; समेत्य—पहुँच कर; न पतन्ति—नीचे नहीं गिरते हैं; कृत-अन्त—मृत्यु के; मुखे—मुख में।

बड़े बड़े ऋषियों द्वारा निर्दिष्ट विधियों के अनुयायियों में से, जिनकी दृष्टि कुछ कम परिष्कृत होती है, वे ब्रह्म को उदर क्षेत्र में उपस्थित मानकर पूजा करते हैं, किन्तु आरुणिगण उसे हृदय में उपस्थित मानकर पूजा करते हैं, जो सूक्ष्म केन्द्र है जहाँ से सारी प्राणिक शाखाएँ (नाड़ियाँ) निकलती हैं। हे अनन्त, ये पूजक अपनी चेतना को वहाँ से ऊपर उठाकर सिर की चोटी तक ले जाते हैं, जहाँ वे आपको प्रत्यक्ष देख सकते हैं। तत्पश्चात् सिर की चोटी से चरम गन्तव्य की ओर बढ़ते हुए वे उस स्थान पर पहुँच जाते हैं, जहाँ से वे पुन: इस जगत में, जो मृत्यु के मुख स्वरूप हैं, नहीं गिरेंगे।

तात्पर्य : यहाँ पर ध्यानमय योग की शिक्षा देने वाली श्रुतियाँ भगवान् की महिमा का गान करती हैं। योग की विविध-विधियाँ अधिकतर धीमी हैं तथा विपथ कराने की आशंकाओ से भरे हैं। फिर भी योग की प्रामाणिक विधियाँ उस परमात्मा के ध्यान को अपना लक्ष्य बनाती हैं, जो जीवात्मा के साथ साथ हृदय-क्षेत्र में निवास करता है। हृदय में परमात्मा की अभिव्यक्ति अत्यन्त सूक्ष्म तथा अनुभव करने में कठिन (*दहरम्*) है, अतएव बढ़े-चढ़े योगी ही उसका साक्षात्कार कर सकते हैं।

प्राय: नवदीक्षित ध्यान करने वाले लोग जीवती शक्ति के किसी निम्न केन्द्र में परमात्मा की गौण

उपस्थिति पर ध्यान केन्द्रित करने का अभ्यास करते हैं यथा मूलाधार चक्र (रीढ़ की हड्डी के तले), स्वाधिष्ठान चक्र (गुदा-क्षेत्र में), मणिपूर चक्र (पेट में)। भगवान् कृष्ण मणिपूर चक्र में परमात्मा-रूप में अपने अंश का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमास्थितः।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

''मैं समस्त जीवों के शरीरों में पाचन-अग्नि हूँ और मैं बाहर जाने वाली तथा भीतर आने वाली प्राण-वायु के साथ मिलकर चार प्रकार का भोजन पचाता हूँ।'' (*भगवद्गीता* १५.१४) वैश्वानर देवता पाचन का अधिष्ठाता है और वह पशुओं, मनुष्यों तथा देवताओं को चलने-फिरने की क्षमता प्रदान करता है। इस श्लोक में बोल रही श्रुतियों के निर्णय के अनुसार जो लोग अपने ध्यान को भगवान् के इसी रूप तक सीमित रखते हैं, वे अल्पज्ञ हैं—*कूर्पदृशः* हैं जिसका शाब्दिक अर्थ है ''धूल से धूमिल आँखों वाला।''

दूसरी ओर आरुणि नाम से विख्यात उच्च योगी ब्रह्म के उस रूप को पूजते हैं, जो जीव के संगी के रूप में हृदय के भीतर रहता है, जो अपने अधीनस्थ जीव को ज्ञान-शक्ति देता है और व्यावहारिक बुद्धि द्वारा उसे प्रेरित करता है। जिस तरह भौतिक हृदय रक्तसंचार का केन्द्र होता है, उसी तरह सूक्ष्म हृदय चक्र प्राण की असंख्य शाखाओं का, जिन्हें नाड़ी कहते हैं, मिलनस्थल है। ये नाड़ियाँ बाहर की ओर शरीर के सारे भागों को जाती हैं। जब ये नाड़ियाँ काफी शुद्ध कर दी जाती हैं, तो आरुणि योगीजन हृदय क्षेत्र को छोड़कर मस्तिष्क के तालु पर स्थित चक्र की ओर बढ़ते हैं। जो योगी इस *ब्रह्मरन्ध्र चक्र* से होकर अपना शरीर त्याग करते हैं, वे सीधे भगवद्धाम जाते हैं, जहाँ से लौटकर फिर से जन्म लेने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस तरह ध्यानमय योग की अनिश्चित विधि भी ठीक से पालन किये जाने पर शुद्ध भक्ति का फल दे सकती है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ऐसे कई श्रुति मंत्र उद्धृत करते हैं, जो इस श्लोक के शब्दों को प्रतिध्वनित करते हैं: *उदरं ब्रह्मेति शार्कराक्षा उपासते हृदयं ब्रह्मेत्यारुणयो ब्रह्मा है वैता इत ऊर्ध्वं त्वेवोदसर्पत् तच्छिरोऽश्रयते*—जिनकी दृष्टि पर परदा पड़ा रहता है वे ब्रह्म की पहचान उदर से करते हैं, जबकि आरुणिजन ब्रह्म की पूजा हृदय में करते हैं। जिसने सचमुच ही ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया

है, वह हृदय से ऊपर उठता हुआ सिर की चोटी पर भगवान् की शरण लेने पहुँचता है, जहाँ वे प्रकट होते हैं।''

शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-

स्तासां मूर्धानमभिनि:सृतैका।

तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विश्व-

न्न अन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥

''हृदय से निकलने वाली १०१ सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं। इनमें से एक—सुषुम्ना—सिर की चोटी तक जाती है। इस नाड़ी से ऊपर की ओर होते हुए मनुष्य मृत्यु को पार कर जाता है। अन्य नाड़ियाँ समस्त दिशाओं में जाती हैं, जो विविध प्रकार के पुनर्जन्म तुल्य हैं।'' (*छान्दोग्य उपनिषद्* ८.६.६)

उपनिषदों में अन्तर्यामी परमात्मा का बारम्बार उल्लेख मिलता है। *श्री श्वेताश्वतर उपनिषद्* (३.१२-१३) में परमात्मा का वर्णन निम्नवत् है—

महान् प्रभुर्वै पुरुष: सत्त्वस्यैष प्रवर्तक:।

सुनिर्मलां इमां प्राप्तिम् ईशानो ज्योतिरव्यय:॥

अंगुष्ठमात्र: पुरुषोऽअन्तरात्मा

सदा जनानां हृदये सन्निविष्ट:।

हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो

य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

''इस ब्रह्माण्ड का विस्तार करने के लिए पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् पुरुष बनते हैं। वे योगियों के शुद्ध पूर्ण गन्तव्य हैं, जो तेजवान तथा अच्युत परम नियन्ता हैं। एक अँगूठे की माप वाले ये पुरुष समस्त जीवों के हृदयों में परमात्मा रूप में सदैव उपस्थित रहते हैं। बुद्धि का उचित प्रयोग करके मनुष्य उनका साक्षात्कार हृदय के भीतर कर सकता है। जो यह विधि सीख लेते हैं उन्हें अमरता प्राप्त होती है।''

अन्त में श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

उदरादिषु य: पुंसां चिन्तितो मुनिवर्त्मभि:।

हन्ति मृत्युभयं देवो हृद्गतं तमुपास्महे ॥

"आओ, हम उन भगवान् की पूजा करें, जो हृदय में वास करते हैं। जब मर्त्य प्राणी महर्षियों द्वारा स्थापित मानक विधियों से उदर में तथा शरीर के अन्य भागों में उनके अंशों के रूप में उनका ध्यान करते हैं, तो भगवान् मृत्यु के भय को विनष्ट करते हुए प्रत्युत्तर देते हैं।"

स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया
तरतमतश्चकास्स्यनलवत्स्वकृतानुकृतिः ।
अथ वितथास्वमूष्ववितथां तव धाम समं
विरजधियोऽनुयन्त्यभिविपण्यव एकरसम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

स्व—अपने द्वारा; कृत—बनाया हुआ; विचित्र—विविध; योनिषु—योनियों में; विशन्—प्रवेश करते हुए; इव—सदृश; हेतुतया—कारणस्वरूप; तरतमतः—कोटियों के अनुसार; चकास्सि—दृश्य बनते हो; अनल-वत्—आग की तरह; स्व—अपनी; कृत—सृष्टि; अनुकृतिः—अनुकरण करते हुए; अथ—इसलिए; वितथासु—नकली; अमूषु—इन (योनियों) में से; अवितथम्—नकली नहीं; तव—तुम्हारा; धाम—प्राकट्य; समम्—अभिन्न; विरज—निर्मल; धियः—जिनके मन; अनुयन्ति—समझते हैं; अभिविपण्यवः—सारे भौतिक बन्धों (पण) से मुक्त हैं, जो; एक-रसम्—अपरिवर्तित।

आपने जीवों की जो विविध योनियाँ उत्पन्न की हैं, उनमें प्रवेश करके, उनकी उच्च तथा निम्न अवस्थाओं के अनुसार आप अपने को प्रकट करते हैं और उन्हें कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं, जिस प्रकार अग्नि अपने द्वारा जलाई जाने वाली वस्तु के अनुसार अपने को विविध रूपों में प्रकट करती है। अतएव जो लोग भौतिक आसक्तियों से सर्वथा मुक्त हैं, ऐसे निर्मल बुद्धि वाले लोग आपके अभिन्न तथा अपरिवर्तनशील आत्मा को इन तमाम अस्थायी योनियों में स्थायी सत्य के रूप में साक्षात्कार करते हैं।

तात्पर्य : साक्षात् वेदों की इन स्तुतियों को, जिनमें श्रुतियाँ परमात्मा को असंख्य प्रकार के भौतिक शरीरों में प्रविष्ट करते हुए बताती हैं, सुनकर आलोचक यह प्रश्न उठा सकता है कि ब्रह्म सीमित हुए बिना ऐसा कैसे कर सकता है? निस्सन्देह अद्वैत दर्शन का समर्थक परमात्मा तथा उनकी सृष्टि में कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं देखता। निर्विशेष विचारधारा के अनुसार ब्रह्म माया के जाल में बुरी तरह फँस कर पहले साकार ईश्वर बना और तब वह देवता, मनुष्य, पशु, पौधे और अन्त में पदार्थ बना। शंकराचार्य तथा उनके अनुयायी इस सिद्धान्त के समर्थन में कि ब्रह्म पर माया कैसे थोपी जाती है वैदिक प्रमाण जुटाने में काफी श्रम करते हैं। किन्तु वेद स्वयं यहाँ पर अपने विषय में उठाये जाने वाले

आक्षेप का उत्तर देते हैं और मायावादी निर्विशेषवाद का समर्थन नहीं करते।

सृजन की प्रक्रिया पारिभाषिक दृष्टि से *सृष्टि* (''बाहर निकालना'') कहलाती है। भगवान् अपनी विविध शक्तियों को बाहर निकालते हैं और ये शक्तियाँ उनसे पृथक् रहकर उनकी प्रकृति में भाग लेती हैं। यह तथ्य *अचिन्त्यभेदाभेद* के असली वैदिक दर्शन में व्यक्त हुआ है। इस तरह यद्यपि असंख्य व्यष्टि जीवों में हर एक की पृथक् पहचान (सत्ता) है, किन्तु हर जीव उसी आध्यात्मिक वस्तु से बना होता है, जिससे ब्रह्म बना है। चूँकि सारे जीव भगवान् के आध्यात्मिक सार में सम्मिलित हैं, अतएव वे अजन्मा तथा नित्य हैं, जिस तरह ब्रह्म है। भगवान् कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन से कहते हुए इसकी पुष्टि की है—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपा:।

न चैव न भविष्याम: सर्वे वयमत: परम्॥

''ऐसा कोई काल नहीं था जब मैं नहीं था या तुम नहीं थे अथवा ये सारे राजा नहीं थे। न ही भविष्य में हममें से कोई भी नहीं रहेगा।'' (भगवद्गीता २.१२) भौतिक सृष्टि उन जीवों के लिए विशेष आयोजन है, जो भगवान् की सेवा से अपने को पृथक् करना चाहते हैं। इस तरह सृष्टि का अर्थ है एक नकली जगत की उत्पत्ति जहाँ ऐसे जीव अपने को स्वतंत्र मान सकें।

भौतिक जीवन की नाना योनियाँ उत्पन्न करने के बाद भगवान् प्रत्येक जीव को बुद्धि तथा प्रेरणा, जिसकी उसे अपने दैनिक जीवन में आवश्यकता पड़ती है, प्रदान करने के लिए, अपनी ही सृष्टि में परमात्मा के रूप में विस्तरित होते हैं। जैसाकि *तैत्तिरीय उपनिषद्* (२.६.२) में कहा गया है—*तत् सृष्ट्वा तद् एवानुप्राविशत्*—इस जगत को उत्पन्न करने के बाद वे इसमें प्रविष्ट हो गये। किन्तु भगवान् इस भौतिक जगत में इससे किसी प्रकार का सम्बन्ध रखे बिना प्रवेश करते हैं—इसे ही श्रुतियाँ यहाँ पर *विशन्निव* पद (केवल प्रविष्ट प्रतीत होते हुए) द्वारा घोषित करती हैं। *तरतमश्चकास्सि* का अर्थ है कि परमात्मा महान् देवता ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र कीटाणु तक हर जीव के शरीर में प्रवेश करते हैं और प्रत्येक जीव के प्रबुद्ध होने की क्षमता के अनुसार विभिन्न मात्राओं में अपनी शक्ति दर्शाते हैं। *अनलवत् स्वकृतानुकृति:*—जिस तरह से विभिन्न वस्तुओं में लगाई गई अग्नि उन वस्तुओं के आकार के अनुसार जलती है, उसी तरह परमात्मा सभी जीवों के शरीरों में प्रवेश करके उसकी क्षमता के अनुसार ही

प्रत्येक बद्धजीव को प्रकाश प्रदान करता है।

सृष्टि तथा संहार के बीच भी समस्त जीवों का स्वामी नित्य अपरिवर्तित है, जैसाकि *एकरसम्* शब्द से द्योतन हुआ है। दूसरे शब्दों में, भगवान् अपने अपरिमेय, शुद्ध दिव्य आनन्द वाले साकार स्वरूप को सदैव बनाये रखता है। वे विरले जीव जो भौतिक व्यापारों से अर्थात् *पण* (इस तरह *अभिविपण्यव:* बनकर) अपने को पूर्णतया विलग (*अभितस्*) रखते हैं, वे ही परमेश्वर को यथार्थ रूप में जान पाते हैं। हर बुद्धिमान व्यक्ति को इन्हीं महात्माओं का अनुसरण करना चाहिए और उनसे यह याचना करनी चाहिए कि उन्हें भी भगवद्भक्ति में लगा दें।

श्रुतियों द्वारा की गई इस स्तुति का भाव *श्वेताश्वतर उपनिषद्* के निम्नलिखित मंत्र (६.११) से साम्य रखता है—

एको देव: सर्वभूतेषु गूढ:

सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

कर्माध्यक्ष: सर्वभूताधिवास:

साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

"एक परमेश्वर समस्त सृजित वस्तुओं के भीतर छिपा रहता है। वह समस्त पदार्थ में व्याप्त है और सारे जीवों के हृदयों के भीतर स्थित रहता है। अन्त:वासी परमात्मा के रूप में वह उनके कार्यकलापों का निरीक्षण करता है। इस तरह स्वयं निर्गुण होते हुए भी वह अद्वितीय साक्षी है तथा चेतना देने वाला है।"

श्रील श्रीधर स्वामी अपनी प्रार्थना प्रस्तुत करते हैं :

स्वनिर्मितेषु कार्येषु तारतम्यविवर्जितम्।

सर्वानुस्यूतसन्मात्रं भगवन्तं भजामहे॥

"हम उन परमेश्वर की पूजा करें, जो अपनी ही सृष्टि के पदार्थों में प्रवेश करते हैं, फिर भी उनकी उत्तम तथा निम्न भौतिक कोटियों से वे पृथक् रहते हैं। वे शुद्ध, विभेदरहित अस्तित्ववाले है और सर्वव्यापी हैं।"

स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोऽंशकृतम् ।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवम्भुवि विश्वसिताः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

स्व—अपने द्वारा; कृत—उत्पन्न; पुरेषु—शरीरों में; अमीषु—इन; अबहिः—बाहरी रूप से नहीं; अन्तर—अथवा आन्तरिक रूप से; संवरणम्—जिसका वास्तविक विकास; तव—तुम्हारा; पुरुषम्—जीव; वदन्ति—वेद कहते हैं; अखिल—समस्त; शक्ति—शक्तियों के; धृतः—स्वामी के; अंश—अंशरूप; कृतम्—प्रकट; इति—इस प्रकार; नृ—जीव का; गतिम्—पद; विविच्य—निश्चित करके; कवयः—विद्वान मुनिजन; निगम—वेदों के; आवपनम्—खेत, जिसमें सारी भेंटें बोई जाती हैं; भवतः—आपके; उपासते—पूजा करते हैं; अङ्घ्रिम्—पैरों की; अभवम्—जो संसार का संहार करने वाले हैं; भुवि—पृथ्वी पर; विश्वसिताः—विश्वास रखने वाले।

प्रत्येक जीव अपने कर्म द्वारा सृजित भौतिक शरीरों में निवास करते हुए, वास्तव में, स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ से आच्छादित हुए बिना रहता है। जैसा कि वेदों में वर्णन हुआ है, ऐसा इसलिए है, क्योंकि वह समस्त शक्तियों के स्वामी, आपका ही भिन्नांश है। जीव की ऐसी स्थिति को निश्चित करके ही, विद्वान मुनिजन श्रद्धा से पूरित होकर, आपके उन चरणकमलों की पूजा करते हैं, जो मुक्ति के स्रोत हैं और जिन पर इस संसार की सारी वैदिक भेंटें अर्पित की जाती हैं।

तात्पर्य : बद्धजीवों के शरीरों के भीतर निवास करते समय न केवल भगवान् पूर्णतया अदूषित रहते हैं, अपितु सूक्ष्म जीवात्माएँ भी जन्म-मृत्यु के चक्र में से बारम्बार गुजरते समय अर्जित अज्ञान तथा काम के आवरणों से कभी छुई तक नहीं जातीं। इस प्रकार *तैत्तिरीय उपनिषद्* (३.१०.५)

इस स्तुति में साक्षात् वेद भौतिक शरीरों के निश्चित भोक्ता (जीवात्मा) को समस्त शक्तियों के दिव्य आगार, परमेश्वर, के अंशरूप में बतलाते हैं। इस सन्दर्भ में *अंशकृतम्* अर्थात् उसके अंश जैसा बनाया हुआ को सही सही समझना होगा। *जीव* का न तो कभी सृजन होता है, न ही वह *विष्णुतत्त्व* अंश जैसा अंश है। परमात्मा सबों के द्वारा पूज्य है और अधीन जीव परमात्मा का पूजक होने के लिए है। परमेश्वर अपने व्यक्तित्व के असंख्य रूप प्रदर्शित करके अपनी लीलाएँ करता है, जबकि जीव को अपने संचित कर्मों के आदेशों के अनुसार अपना शरीर बदलने को बाध्य होना पड़ता है। *श्री नारद पञ्चरात्र* के अनुसार

यत् तटस्थं तु चिद्रूपं स्वसंवेद्याद् विनिर्गतम्।
रञ्जितं गुणरागेण सजीव इति कथ्यते॥

"तटस्था शक्ति जो स्वभावतः आध्यात्मिक है, स्व-सचेत संवित् शक्ति से उत्पन्न होती है और

भौतिक गुणों के प्रति आसक्त होने से कलुषित हो जाती है, *जीव* कहलाती है।''

यद्यपि जीवात्मा भी भगवान् कृष्ण का अंश है, किन्तु वह कृष्ण के स्वतंत्र अंश विष्णु से इस बात में भिन्न है कि वह वैधानिक स्थिति से आत्मा तथा पदार्थ के बीच तटस्थ है। *महावराह पुराण* में बतलाया गया है—

स्वांशश्चाथ विभिन्नांश इति द्विधा श इष्यते।

अंशिनो यत्तु सामर्थ्यं यत्स्वरूपं यथा स्थितिः॥

तदेव नाणुमात्रोऽपि भेदं स्वांशांशिनोः क्वचित्।

विभिन्नांशोऽल्पशक्तिः स्यात् किञ्चित् सामर्थ्यमात्रयुक्॥

''भगवान् दो प्रकार से जाना जाता है अपने स्वांश रूपों में तथा अपने भिन्नांशों के रूप में। स्वांशों तथा उनके स्रोत के मध्य कभी भी न तो सामर्थ्यों में, न रूपों या स्थितियों में कोई अनिवार्य भेद पाया जाता है। दूसरी ओर विभिन्नांशों में केवल अल्प शक्ति होती है, क्योंकि भगवान् की शक्ति का अल्प अंश ही इन्हें प्रदत्त किया जाता है।''

इस जगत में बद्धजीव इस तरह प्रकट होता है, मानो भीतर तथा बाहर से पदार्थ द्वारा आच्छादित हो। बाह्य रूप से स्थूल पदार्थ उसके शरीर तथा परिवेश के रूप में आच्छादित किये रहता है, जबकि भीतर से इच्छा तथा द्वेष उसकी चेतना को कोंचते रहते हैं। किन्तु स्वरूपसिद्ध मुनियों की दिव्य दृष्टि में ये दोनों प्रकार के आवरण निरर्थक हैं। तर्क द्वारा सारी भौतिक पहचानों का, जो आत्मा के स्थूल तथा सूक्ष्म आवरणों पर आधारित भ्रांत धारणाएँ हैं, निषेध कर देने पर विचारवान व्यक्ति यह पायेगा कि आत्मा तनिक भी भौतिक नहीं है, प्रत्युत यह दैवी आत्मा का स्फुलिंग है और भगवान् का दास है। यह समझ कर मनुष्य को भगवान् के चरणकमलों की पूजा करनी चाहिए। ऐसी पूजा वैदिक अनुष्ठान रूपी वृक्ष का पूर्ण विकसित पुष्प है। भगवान् के चरणकमलों के वैभव की अनुभूति होने पर जो धीरे धीरे वैदिक यज्ञों के करने से पनपती है, संसार से मोक्ष का फल अपने आप मिल जाता है और भगवान् की कृपा में अटूट श्रद्धा उत्पन्न होती है। इस जगत में रहते हुए भी यह सब प्राप्त किया जा सकता है। भगवान् कृष्ण ने *गोपालतापनी उपनिषद्* (उत्तर ४७) में कहा है—

मथुरामण्डले यस्तु जम्बूद्वीपे स्थितोऽथ वा।

योऽर्चयेत् प्रतिमां प्रति स मे प्रियतरो भुवि॥

"जो व्यक्ति मथुरा जनपद में या जम्बूद्वीप में कहीं भी रहकर मेरे अर्चाविग्रह के रूप में मेरी पूजा करता है, वह इस जगत में मेरा सर्वाधिक प्रिय बन जाता है।"

श्रील श्रीधर स्वामी स्तुति करते हैं—

त्वदंशस्य ममेशान त्वन्मायाकृतबन्धनम्।

त्वदंघ्रिसेवामादिश्य परानन्द निवर्तय॥

"हे प्रभु! मैं आपका भिन्नांश हूँ, मुझे अपनी माया द्वारा बनाये हुए बन्धन से मुक्त कीजिये। हे परमानन्द के धाम! आप मुझे अपने चरणों की सेवा में लगाकर ऐसा कीजिये।"

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनोश्
चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

दुरवगम—समझ पाना कठिन; आत्म—आत्मा का; तत्त्व—सत्य; निगमाय—प्रसार करने हेतु; तव—तुम्हारा; आत्त—धारण करने वाले; तनोः—आपके स्वरूप; चरित—लीलाओं के; महा—विस्तीर्ण; अमृत—अमृत के; अब्धि—सागर में; परिवर्त—गोता लगाकर; परिश्रमणाः—थकान से उबारे हुए; न परिलषन्ति—इच्छा नहीं करते; केचित्—कुछ ही व्यक्ति; अपवर्गम्—मोक्ष की; अपि—भी; ईश्वर—हे प्रभु; ते—तुम्हारे; चरण—चरणों पर; सरोज—कमल रूपी; हंस—हंसों के; कुल—समुदाय; सङ्ग—साथ; विसृष्ट—परित्यक्त; गृहाः—जिनके घर।

हे प्रभु, कुछ भाग्यशाली आत्माओं ने आपकी उन लीलाओं के विस्तृत अमृत सागर में गोता लगाकर भौतिक जीवन की थकान से मुक्ति पा ली है, जिन लीलाओं को आप अगाध आत्म-तत्त्व का प्रचार करने के लिए साकार रूप धारण करके सम्पन्न करते हैं। ये विरली आत्माएँ, मुक्ति की भी परवाह न करके घर-बार के सुख का परित्याग कर देती हैं, क्योंकि उन्हें आपके चरणकमलों का आनन्द लूटने वाले हंसों के समूह सदृश भक्तों की संगति प्राप्त हो जाती है।

तात्पर्य : आनुष्ठानिक ब्राह्मण (स्मार्त) तथा मायावादी लोग भक्तियोग की प्रक्रिया को तुच्छ ठहराते हैं। उनका कथन है कि भगवद्भक्ति तो भावुक व्यक्तियों की वस्तु है, जिनमें कठोर विधि-विधानों को पालन करने या ज्ञान का कड़ा अनुशीलन करने की परिपक्वता का अभाव होता है।

किन्तु इस श्लोक में साक्षात् वेद भक्ति की सर्वश्रेष्ठता की घोषणा कर रहे हैं और इसकी पहचान

स्पष्टया *आत्मतत्त्व* के रूप में करते हैं, जिसे मायावादी बड़े गर्व से अपना क्षेत्र बतलाते हैं। श्रील जीव गोस्वामी इस *आत्मतत्त्व* की परिभाषा भगवान् के साकार रूपों, गुणों तथा लीलाओं के गुह्य रहस्य के रूप में देते हैं। वे *आत्मतनोः* का दूसरा अर्थ भी देते हैं, जो "विभिन्न शरीर धारण करने वाला" की बजाय "जो अपने दिव्य शरीर की ओर प्रत्येक को आकृष्ट करे" है।

भगवान् कृष्ण तथा उनके विविध अंशों और अवतारों की लीलाएँ आनन्द के अथाह सागर हैं। जब मनुष्य अपने भौतिक कार्यकलापों से पूरी तरह ऊब जाता है, चाहे वह भौतिक सफलता की तलाश में लगा हो, अथवा आध्यात्मिक संहार के निर्विशेष भाव में, तो वह इस अमृत में डुबकी लगाकर राहत प्राप्त कर सकता है। जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने भक्तियोग के विज्ञान सम्बन्धी अपनी पुस्तक *भक्तिरसामृतसिन्धु* में कहा है कि जो कोई इस विस्तृत सागर की एक बूँद का भी आस्वादन कर लेता है, उसे किसी भी वस्तु की कोई इच्छा नहीं रह जाती।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती *परिश्रमणाः* शब्द की दूसरी व्याख्या करते हुए टीका करते हैं कि यद्यपि भक्तगण भगवान् की आनन्द-लीलाओं के सागर की अनंत लहरों तथा अन्तर्धाराओं में बारम्बार गोता लगाकर थक जाते हैं, किन्तु ये भक्तगण भगवान् की सेवा के अतिरिक्त कोई अन्य सुख नहीं चाहते, यहाँ तक कि मोक्ष-सुख भी नहीं। प्रत्युत उनकी थकान ही उनके लिए आनन्द बन जाती है, जिस तरह संभोग से उत्पन्न थकान यौन की लत वाले व्यक्ति को सुखद लगती है। भगवान् के शुद्ध भक्त भगवान् की लीलाओं की मनोहर कथाएँ सुनकर अनुप्राणित होते हैं और नाचने, गाने, जोर से चिल्लाने, अपनी एड़ियों को पटकने, मूर्छित होने, सिसकने तथा उन्मत्तों की तरह इधर-उधर दौड़ने के लिए उत्प्रेरित हो जाते हैं। इस तरह वे शारीरिक थकान का अनुभव किये बिना आनन्द-विभोर रहते हैं।

शुद्ध वैष्णवों को तो मोक्ष भी नहीं चाहिए, अन्य ऐच्छिक लक्ष्यों जैसे स्वर्ग का शासक पद की तो बात ही नहीं उठती। इतना समर्पण-भाव इस जगत में निश्चित रूप से दुर्लभ है, जैसाकि इस श्लोक में श्रुतियों द्वारा प्रयुक्त *केचित्* शब्द से प्रकट होता है। शुद्ध भक्त न केवल भावी लाभ की लालसा का परित्याग कर देते हैं, अपितु सम्प्रति उनके पास जो कुछ यथा घर तथा पारिवारिक जीवन की सारी सामान्य सुख-सुविधाएँ होती हैं, उसके प्रति भी उनका आकर्षण जाता रहता है। उनके लिए सन्त वैष्णवों परम्परागत गुरुओं, शिष्यों तथा प्रशिष्यों—की संगति ही उनका असली परिवार बन जाता है,

जिसमें श्री शुकदेव गोस्वामी जैसे हंस रूपी महापुरुष होते हैं। ये महापुरुष भगवान् के चरणकमलों की सेवा का मधुर अमृत नित्य ही पान करते हैं।

उपनिषदों तथा अन्य श्रुतियों के अनेक मंत्र मोक्ष की अपेक्षा भक्ति को खुले तौर पर श्रेष्ठ घोषित करने वाले हैं। *नृसिंह पूर्व तापनी उपनिषद्* के शब्दों के अनुसार—*यं सर्वे वेदा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च*—सारे वेद, सारे मुमुक्ष तथा ब्रह्म के जिज्ञासु व्यक्ति उन्हें ही नमस्कार करते हैं। इस मंत्र की टीका करते हुए श्री शंकराचार्य यह स्वीकार करते हैं—*मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भजन्ति*—मुक्तात्माएँ भी भगवान् का अर्चाविग्रह स्थापित करके उनकी पूजा करने में हर्ष अनुभव करते हैं। इस प्रसंग में आचार्य शंकर के महान् प्रतिद्वन्द्वी श्रील मध्वाचार्य आनन्दतीर्थ अपने प्रिय श्रुति-मंत्र उद्धृत करते हैं जैसे—*मुक्ता ह्येतम् उपासते मुक्तानामपि भक्तिर्हि परमानन्दरूपिणी*—"मुक्त लोग भी उनकी पूजा करते हैं और उनके लिए भी भक्ति परम आनन्द रूपिणी है।" तथा *अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानं। चरणं नो लोके सुधितां दधातु। ॐ तत्सत्*—जिनके चरणों से अमृत की धारा बहती है वे चरण हम इस जगत के निवासियों को ज्ञान प्रदान करें।

संक्षेप में, श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

त्वत् कथामृत पाथोधौ विहरन्तो महामुदः।

कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम्॥

"वे विरले भाग्यशाली व्यक्ति जो आपकी कथाओं के अमृत सागर में क्रीड़ा करके परम आनन्द प्राप्त करते हैं, वे जीवन के महान् चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष) को *तृणवत्* समझते हैं।"

त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियवच्
चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च ।
न बत रमन्त्यहो असदुपासनयात्महनो
यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

त्वत्—तुम; अनुपथम्—सेवा के लिए उपयोगी; कुलायम्—शरीर; इदम्—यह; आत्म—स्वयं; सुहृत्—मित्र; प्रिय—तथा प्रिय; वत्—सदृश; चरति—कार्य करता है; तथा—तो भी; उन्मुखे—उन्मुख; त्वयि—तुममें; हिते—सहायक; प्रिये—प्रिय; आत्मनि—आत्मा; च—तथा; न—नहीं; बत—हाय; रमन्ति—आनन्द लूटते हैं; अहो—ओह; असत्—असत्य की; उपासनया—पूजा द्वारा; आत्म—स्वयं को; हनः—मारना; यत्—जिस (असत्य की पूजा) में; अनुशयाः—जिनकी निरन्तर इच्छा है; भ्रमन्ति—घूमते रहते हैं; उरु—अत्यधिक; भये—भयावह (जगत) में; कु—निम्न; शरीर—शरीर; भृतः—धारण किये।

जब यह मानवीय शरीर आपकी पूजा के निमित्त काम में लाया जाता है, तो यह आत्मा, मित्र तथा प्रेमी की तरह कार्य करता है। किन्तु दुर्भाग्यवश, यद्यपि आप बद्धजीवों के प्रति सदैव कृपा प्रदर्शित करते हैं और हर तरह से स्नेहपूर्वक सहायता करते हैं और यद्यपि आप उनके असली आत्मा हैं, किन्तु सामान्य लोग आप में आनन्द नहीं लेते। उल्टे वे माया की पूजा करके आध्यात्मिक आत्महत्या करते हैं। हाय! असत्य के प्रति भक्ति करके, वे निरन्तर सफलता की आशा करते हैं, किन्तु वे विविध निम्न शरीर धारण करके इस अत्यन्त भयावह जगत में निरन्तर इधर-उधर भटकते रहते हैं।

तात्पर्य : जो लोग सर्वदयामय भगवान् की सेवा न करके माया में रहते रहना चाहते हैं, उनके लिए वेद बड़े ही कटु शब्दों का प्रयोग करते हैं। *बृहदारण्यक उपनिषद्* का कथन है (४.३.१५)—*आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन। न तम् विदाथ य इमा जनानान्यद्युष्माकम् अन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति*—"हर व्यक्ति उस स्थान को देख सकता है, जहाँ अपने आनन्द हेतु इस जगत में भगवान् ने अपने आपको प्रकट किया, तो भी कोई उन्हें नहीं देख पाता। जिन्होंने इन समस्त जीवों को उत्पन्न किया, उन्हें आप में से कोई नहीं जानता। अतएव तुम्हारी तथा भगवान् की दृष्टि में बहुत बड़ा अन्तर है। माया के कुहासे से आवृत तुम वैदिक अनुष्ठानकर्ता व्यर्थ की बातों में लगे रहते हो और अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए ही जीते हो।"

भगवान् इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं, जैसाकि वे *भगवद्गीता* (९.४) में कहते हैं *मया ततं इदं सर्वं जगत्।* इस जगत की कोई भी वस्तु, यहाँ तक कि मिट्टी का अत्यन्त तुच्छ पात्र या वस्त्र का टुकड़ा भी उनकी उपस्थिति से रहित नहीं है। चूँकि वे अपने को ईर्ष्यालु आँखों से अदृश्य (*अव्यक्तमूर्तिना*) रखते हैं, अतएव भौतिकतावादी उनकी भौतिक शक्ति से गुमराह होकर यह सोचते हैं कि भौतिक सृष्टि का स्रोत परमाणुओं तथा भौतिक शक्तियों का मिश्रण है।

ऐसे मूर्ख भौतिकतावादियों पर अनुग्रह प्रदर्शित करते हुए साक्षात् वेद इस स्तुति में उन्हें जीवन के असली उद्देश्य को स्मरण रखने की सलाह देते हैं यह उद्देश्य है अपने सबसे बड़े हितैषी प्रभु की प्रेमाभक्ति द्वारा सेवा करना। मनुष्य-शरीर आध्यात्मिक चेतना को जागृत करने के लिए आदर्श सुविधा है इसके अंग—कान, जीभ, आँखें इत्यादि—भगवान् के विषय में श्रवण करने, उनके यश का कीर्तन

करने, उनकी पूजा करने तथा अन्य सभी आवश्यक भक्ति-कार्य करने के लिए अतीव उपयुक्त हैं।

मनुष्य का भौतिक शरीर कुछ ही समय तक ठीक-ठाक रहने वाला है अतएव इसे *कुलायम्* कहा गया है—पृथ्वी में विलीन होते हुए (*कौलीयते*)। तो भी यदि इसे उचित ढंग से उपयोग में लाया जाय, तो यह मनुष्य का श्रेष्ठ मित्र हो सकता है। किन्तु जब मनुष्य भौतिक चेतना में निमग्न रहता है, तो शरीर झूठा मित्र बन जाता है और मोहग्रस्त जीव को अपने असली स्वार्थ से हटा देता है। जो लोग अपने अपने पतियों अथवा पत्नियों, अपनी सन्तानों, पालतू पशुओं इत्यादि के शरीरों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं, वे अपनी भक्ति को माया अर्थात् *असद् उपासना* की ओर निर्देशित करते हैं। इस तरह से ऐसे लोग आध्यात्मिक आत्महत्या करते हैं, जैसाकि श्रुतियों ने यहाँ पर कहा है। इससे वे मानवीय जीवन के उच्चतर कर्तव्यों का पालन न करने के लिए भावी दण्ड के भागी होते हैं। *ईशोपनिषद्* (३) में घोषणा की गई है—

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता: ।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना: ॥

''आत्मा को मारने वाला चाहे जो भी हो उसे श्रद्धाविहीन (असूर्या) नामक लोक में जाना होगा, जो अंधकार तथा अज्ञान से पूर्ण है।''

जो लोग इन्द्रिय-तृप्ति के प्रति अत्यधिक आसक्त हैं या जो लोग झूठे भौतिकतावादी शास्त्रों तथा दर्शनों के रूप में अस्थायी की पूजा करते हैं, वे उन इच्छाओं को बनाये रखते हैं, जो उन्हें क्रमश: निम्न से निम्नतर शरीरों में ले जाती हैं। चूँकि वे सदा के लिए संसार-चक्र में फँसे रहते हैं, अत: उनके उद्धार की एकमात्र आशा यही है कि भगवद्भक्तों के द्वारा दी गई दयापूर्ण शिक्षाओं को सुनने का अवसर पा सकें।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

त्वय्यात्मनि जगन्नाथे मन्मनो रमतामिह ।

कदा ममेदृशं जन्म मानुषं सम्भविष्यति ॥

''मुझे कब वह मनुष्य-जन्म प्राप्त होगा, जिसमें मेरा मन परमात्मा एवं जगत के ईश्वर आपमें आनन्द ले सकेगा ?''

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यन्
मुनय उपासते तदरयोऽपि ययु: स्मरणात् ।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समा: समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधा: ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

निभृत—वशीभूत; मरुत्—श्वास लेते हुए; मन:—मन; अक्ष—तथा इन्द्रियों समेत; दृढ-योग—स्थिर योग में; युज:—लगा हुआ; हृदि—हृदय में; यत्—जो; मुनय:—मुनिगण; उपासते—पूजा करते हैं; तत्—वह; अरय:—शत्रुगण; अपि—भी; ययु:—प्राप्त किया; स्मरणात्—स्मरण करने से; स्त्रिय:—स्त्रियाँ; उरग-इन्द्र—राजसी सर्प के; भोग—शरीर (सदृश); भुज—बाँहें; दण्ड—डंडे जैसी; विषक्त—आसक्त; धिय:—जिनके मन; वयम्—हम; अपि—भी; ते—तुमको; समा:—समान; सम—समान; दृश:—जिनकी दृष्टि; अङ्घ्रि—चरणों के; सरोज—कमलवत्; सुधा:—अमृत (का पान करते हुए)।

भगवान् के शत्रुओं ने भी, निरन्तर मात्र उनका चिन्तन करते रहने से, उसी परम सत्य को प्राप्त किया, जिसे योगीजन अपने श्वास, अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में करके योग-पूजा में स्थिर कर लेते हैं। इसी तरह हम श्रुतियाँ, जो सामान्यत: आपको सर्वव्यापी देखती हैं, आपके चरणकमलों से वही अमृत प्राप्त कर सकेंगी, जिसका आनन्द आपकी प्रियतमाएँ, आपकी विशाल सर्प सदृश बाहुओं के प्रति अपने प्रेमाकर्षण के कारण लूटती हैं, क्योंकि आप हमें तथा अपनी प्रियतमाओं को एक ही तरह से देखते हैं।

तात्पर्य : आचार्य श्री जीव गोस्वामी के अनुसार कुछ श्रुतियाँ, जैसे कि *गोपालतापनी उपनिषद्* जो गोप कृष्ण एवं उच्चतम परब्रह्म को एक मानती हैं अभी तक बोलने के लिए धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करती रहीं। किन्तु अन्य श्रुतियों को खुलकर भगवान् की प्रशंसा करते सुन कर ये घनिष्ठ श्रुतियाँ अधिक समय तक धैर्य धारण नहीं रख सकीं, अतएव अपनी बारी आये बिना ही इस श्लोक में बोल पड़ीं।

योगमाया के मार्ग के अनुयायी श्वास रोक कर तथा कठिन तपस्या द्वारा अपनी इन्द्रियों तथा मन को वश में करते हैं। यदि वे इस प्रकार से अपने को पूरी तरह शुद्ध बना पाते हैं, तो वे अन्त में अपने हृदय में ब्रह्म के साकार रूप परमात्मा का साक्षात्कार करने लगते हैं। और यदि वे दीर्घकाल तक बिना किसी अवरोध के यह ध्यान चालू रखते हैं, तो अन्त में उन्हें असली ईश-चेतना प्राप्त हो सकती है। किन्तु इस कठिन एवं अनिश्चित विधि से जो लक्ष्य प्राप्त होता है, उसी को उन असुरों ने भी प्राप्त किया, जिन्हें भगवान् कृष्ण ने इस धरा पर अपनी लीलाओं के दौरान मारा था। कंस तथा शिशुपाल जैसे असुरों ने जो कृष्ण के प्रति ईर्ष्या से भरे हुए थे भगवान् द्वारा मात्र वध किये जाने पर शीघ्र मोक्ष प्राप्त

किया।

किन्तु साक्षात् वेद अपनी बात बतलाते हुए यहाँ कहते हैं कि वे भगवान् कृष्ण के विश्वस्त भक्तों विशेष रूप से व्रज की युवा गोपियों से भगवान् कृष्ण के प्रति समर्पण का अनुकरण करके भगवत्प्रेम उत्पन्न करना श्रेयस्कर समझेंगे। यद्यपि ये गोपियाँ भगवान् के शारीरिक सौन्दर्य एवं बल से आकृष्ट सामान्य स्त्रियाँ प्रतीत होती थीं, किन्तु ये व्रज की देवियाँ ध्यान की सर्वोच्च पूर्णता प्रदर्शित कर सकीं। श्रुतियाँ उन्हीं की तरह बनना चाहती हैं।

इस सन्दर्भ में ब्रह्माजी निम्नलिखित ऐतिहासिक विवरण सुनाते हैं, जो *बृहद्वामन पुराण* के पूरक में है—

ब्रह्मानन्दमयो लोको व्यापी वैकुण्ठसंज्ञितः।

तल्लोकवासी तत्रस्थै स्तुतो वेदै परात्परः॥

''आध्यात्मिक आनन्द का अनन्त जगत वैकुण्ठ कहलाता है। वहाँ पर परम सत्य साक्षात् वेदों द्वारा प्रशंसित होकर रहते हैं और वहीं वेद भी रहते हैं।''

चिरं स्तुत्वा ततस्तुष्टः परोक्षं प्राह तान् गिरा।

तुष्टोऽस्मि ब्रूता भो प्राज्ञा वरं यं मनसेप्सितम्॥

''जब वेद उनकी खूब प्रशंसा कर चुके, तो एक बार भगवान् अपने आप में विशेष रूप से तुष्ट अनुभव करने लगे और उनसे ऐसी वाणी में बोले, जिसका स्रोत अदृश्य बना रहा: ''हे मुनियो! मैं तुम सबों से अतीव प्रसन्न हूँ। तुम मुझसे कोई वर माँगो, जिसे तुम गुप्त रीति से चाहते हो।''

श्रुतय ऊचुः

यथा तल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः।

भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाजनि नस्तथा॥

''श्रुतियों ने उत्तर दिया: हममें मर्त्यलोक की गोपियों जैसा बनने की इच्छा जागृत हुई है, जो काम से प्रोत्साहित होकर प्रेमी के भाव में आपकी पूजा करती हैं।''

श्रीभगवान् उवाच

दुर्लभो दुर्घटश्चैव युष्माकं स मनोरथः।

मयानुमोदितः सम्यक् सत्यो भवितुमर्हति॥

''तब भगवान् ने कहा: ''तुम लोगों की इस इच्छा को पूरा कर पाना कठिन है। प्रायः असम्भव है। लेकिन क्योंकि मैं वर दे रहा हूँ, इसलिए तुम लोगों की यह इच्छा अवश्य पूरी होगी।''

आगामिनि विरिञ्चौ तु जाते सृष्ट्यार्थमुदिते।

कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ॥

''जब अगला ब्रह्मा सृजन-कर्म के अपने कर्तव्य को निष्ठापूर्वक पूरा करने के लिए जन्म लेगा और जब उसके जीवन का दिन—सारस्वत कल्प—आयेगा तो तुम लोग व्रज में गोपियों के रूप में उत्पन्न होंगी।''

पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले॥

वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान् वो रासमण्डले॥

''पृथ्वी पर भारतभूमि में अपने ही जनपद मथुरा में, वृन्दावन जंगल में, मैं रास-नृत्य के मण्डल में तुम्हारा प्रिय बनूँगा।''

जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोऽधिकम्।

मयि सम्प्राप्य सर्वेऽपि कृतकृत्या भविष्यथ॥

''इस तरह तुम मुझे अपने परपति (जार) के रूप में पाकर पुनः मेरा सर्वोच्च एवं दृढ़ विशुद्ध प्रेम प्राप्त कर सकोगी और इस तरह तुम अपनी सारी कामनाएँ पूरी कर सकोगी।''

ब्रह्मोवाच

श्रुत्वैतच्चिन्तयन्त्यस्ता रूपं भगवतश्चिरम्।

उक्तकालं समासाद्य गोप्यो भूत्वा हरिं गताः॥

''ब्रह्मा ने कहा: इन शब्दों को सुनकर श्रुतियाँ दीर्घकाल तक भगवान् के सौन्दर्य का ध्यान करती रहीं। जब अन्ततः नियत समय आया, तो वे सब गोपियाँ बन गईं और उन्होंने कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त

किया।''

पद्म पुराण के *सृष्टि खण्ड* में भी ऐसा ही विवरण मिलता है, जिसमें बतलाया गया है कि गायत्री मंत्र भी गोपी बन गया।

भक्ति के विकास के सम्बन्ध में भगवान् कृष्ण गोपालतापनी उपनिषद् (उत्तर ४) में इसके आगे कहते हैं—अपूतः पूतो भवति यं मां स्मृत्वा, अव्रती व्रती भवति यं मां स्मृत्वा, निष्कामः सकामो भवति यं मां स्मृत्वा, अश्रोत्री श्रोत्री भवति यं मां स्मृत्वा—''मेरा स्मरण करने से अशुद्ध भी शुद्ध बन जाता है। मेरा स्मरण करने से कोई भी व्रत न लेने वाला व्रतधारी बन जाता है। मेरा स्मरण करने से जो निष्काम है, वह [मेरी सेवा करने की] इच्छा से युक्त (सकाम) हो जाता है। मेरा स्मरण करने से वैदिक मंत्रों का अध्ययन न करने वाला वेदों का निपुण ज्ञाता बन जाता है।''

बृहदारण्यक उपनिषद् (४.५.६) में कृष्णभावनाभावित होने के क्रमिक पदों का वर्णन हुआ है—*आत्मा वा अरे द्दष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः*—आत्मा का ही प्रेक्षण, श्रवण, चिंतन तथा स्थिर चित्त से ध्यान किया जाना चाहिए। भाव यह है कि मनुष्य को चाहिए कि परमात्मा को निम्नलिखित विधियों से अपने पूर्ण व्यक्तित्व में सीधे द्दश्य मान कर साक्षात् करे: सर्वप्रथम परमात्मा के किसी योग्य प्रतिनिधि से उपदेश सुने और ऐसे गुरु की विनम्र सेवा करते हुए तथा सभी प्रकार से उसे प्रसन्न करने का प्रयास करते हुए उसके वचनों को हृदयंगम करे। फिर अपने संशयों तथा भ्रान्तियों को दूर करने के उद्देश्य से गुरु के दिव्य संदेश पर निरन्तर मनन करे। तभी वह पूरे संकल्प एवं द्दढ़ विश्वास के साथ भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करना प्रारम्भ कर सकता है।

तथाकथित ज्ञानी यह सोच सकते हैं कि उपनिषदों में ब्रह्म की *निर्विशेष* अनुभूति को *सविशेष* पूजा से अधिक पूर्ण तथा अन्तिम मान कर प्रशंसा की गई है। किन्तु सारे निष्ठावान वैष्णव परमेश्वर की भक्ति में लगे रहते हैं और उनके अत्यन्त अद्‌भुत विविध गुणों का आनन्दपूर्वक ध्यान करते हैं। श्रुति मंत्रों के अनुसार—*यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्*—परमात्मा जिस व्यक्ति को चुनता है, उसे वह उपलब्ध हो जाता है। उसे ही परमात्मा अपना साकार रूप प्रकट करता है। (*कठ उपनिषद्* १.२.२३ *तथा मुण्डक उपनिषद्* ३.२.३)

श्रील श्रीधर स्वामी निम्नलिखित स्तुति से टीका समाप्त करते हैं—

चरणस्मरणं प्रेम्णा तव देव सुदुर्लभम्।

यथा कथञ्चिद् नृहरे मम भूयाद् अहर्निशम्॥

"हे प्रभु! आपके चरणकमलों का प्रेमपूर्ण स्मरण बड़ी मुश्किल से हो पाता है। हे नरहरि! आप ऐसा करें कि रात-दिन मैं उनका स्मरण कर सकूँ।"

क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं
यत उदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये ।
तर्हि न सन्न चासदुभयं न च कालजवः
किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा ॥ २४॥

शब्दार्थ

कः—कौन; इह—इस संसार में; नु—निस्सन्देह; वेद—जानता है; बत—ओह; अवर—अर्वाचीन; जन्म—जिसका जन्म; लयः—तथा संहार; अग्र-सरम्—पहले आया हुआ; यतः—जिससे; उदगात्—उत्पन्न हुआ; ऋषिः—ऋषि, ब्रह्मा; यम् अनु—जिसके (ब्रह्मा के) पीछे पीछे; देव-गणाः—देवताओं का समूह; उभये—दोनों (जो इन्द्रियों को वश में रखते हैं और जो स्वर्गलोक के भी ऊपर वाले क्षेत्रों में रहते हैं); तर्हि—उस समय; न—नहीं; सत्—स्थूल पदार्थ; न—नहीं; च—भी; असत्—सूक्ष्म पदार्थ; उभयम्—जो दोनों से युक्त है (अर्थात् भौतिक शरीर); न च—न तो; काल—समय का; जवः—प्रवाह; किम् अपि न—किसी भी तरह से नहीं; तत्र—वहाँ; शास्त्रम्—शास्त्र को; अवकृष्य—निकाल कर के; शयीत—(भगवान्) सो जाता है; यदा—जब।

इस जगत का हर व्यक्ति हाल ही में उत्पन्न हुआ है और शीघ्र ही मर जायेगा। अतएव यहाँ का कोई भी व्यक्ति, उसे कैसे जान सकता है, जो हर वस्तु के पूर्व से विद्यमान है और जिसने प्रथम विद्वान ऋषि ब्रह्मा को और उसके बाद के छोटे तथा बड़े देवताओं को जन्म दिया है? जब वह लेट जाता है और हर वस्तु को अपने भीतर समेट लेता है, तो कुछ भी नहीं बचता—न तो स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ, न ही इनसे बने शरीर, न ही काल की शक्ति और न शास्त्र।

तात्पर्य : यहाँ पर श्रुतियाँ परम पुरुष को जानने की कठिनाई बतलाती हैं। साक्षात् वेदों द्वारा इन श्लोकों में भक्तियोग का जैसा वर्णन हुआ है, वह भगवान् को जानने तथा मोक्ष पाने का सबसे सुगम तथा निश्चित मार्ग है। इसकी तुलना में ज्ञानयोग अत्यन्त कठिन है, यद्यपि यह भौतिक जीवन से ऊबे हुओं को, जो अब भी भगवान् की शरण में नहीं जाना चाहते, प्रिय है। जब तक जीव भगवान् की सर्वश्रेष्ठता से ईर्ष्या रखता है, तब तक भगवान् उसे दर्शन नहीं देते। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२५) में भगवान् ने कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

''मैं मूर्ख तथा अज्ञानी के सामने कभी प्रकट नहीं होता। उनके लिए मैं अपनी अन्तरंगा शक्ति से ढका रहता हूँ, इसलिए वे यह नहीं जानते कि मैं अजन्मा तथा अच्युत हूँ।'' ब्रह्मा के शब्दों में (*ब्रह्मसंहिता* ५.३४)—

पन्थास्तु कोटिशतवत्सरसम्प्रगम्यो

वायोरथापि मनसो मुनिपुंगवानाम्।

सोऽप्यस्ति यत्प्रपदसिम्न्यविचिन्त्यतत्त्वे

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जिनके चरणकमलों के अँगूठे के छोर तक ही वे योगीजन पहुँच पाते हैं, जो ब्रह्म की कामना करते हैं और श्वास खींचकर प्राणायाम करते हैं या वे ज्ञानीजन जो करोड़ों वर्षों तक संसार का निषेध करके विभेद रहित ब्रह्म की खोज में लगे रहते हैं।''

इस ब्रह्माण्ड के प्रथम जन्मा जीव ब्रह्मा प्रथम ऋषि भी हैं। उनका जन्म नारायण से हुआ है और उनसे उत्पन्न हैं तमाम देवता, जिनमें पृथ्वी के कार्यों के नियन्ता तथा स्वर्ग के शासक भी सम्मिलित हैं। ये सारे शक्तिमान तथा बुद्धिमान जीव भगवान् की सर्जक शक्ति के अर्वाचीन उत्पाद हैं। ब्रह्मा ही वेदों के पहले वक्ता हैं, अतएव उन्हें वेदों का तात्पर्य जानना चाहिए, कम-से-कम इतना जितना और कोई अधिकारी जानता है, किन्तु वे भी भगवान् को थोड़ा ही समझते हैं। *श्रीमद्भागवत* (१.३.३५) में कहा गया है—*वेद गुह्यानि हृत्पतेः*—हृदय का स्वामी वैदिक ध्वनि की गुप्त कन्दराओं की गहराई में अपने को छिपा लेता है। यदि ब्रह्मा तथा उनसे उत्पन्न देवता उन परमेश्वर को आसानी से नहीं जान पाते, तो भला मर्त्य प्राणी किस तरह उनके स्वतंत्र ज्ञान की खोज में सफल होने की आशा कर सकते हैं?

जब तक यह सृष्टि चलती है जीवों को ज्ञान के मार्ग में अनेक बाधाएँ आती हैं। चूँकि वे अपने को शरीर, मन तथा अहंकार से निर्मित भौतिक आवरण मान बैठते हैं, इसलिए उनमें नाना प्रकार के पूर्वाग्रह तथा भ्रान्तियाँ जन्म लेती हैं। चाहे शास्त्र ही उनका मार्गदर्शन क्यों न करें और कर्म, ज्ञान तथा योग की संस्तुत विधियों को अपनाने का उन्हें अवसर क्यों न दिया जाय, बद्धजीवों में ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त कर सकने की तनिक भी क्षमता नहीं होती। जब प्रलय का समय आता है, तो वैदिक शास्त्र तथा उनके

विधि-विधान सब लुप्त हो जाते हैं और निष्क्रिय जीव नितान्त अंधकार में रह जाता है। इसलिए भक्ति से रहित ज्ञान के लिए व्यर्थ प्रयास करना छोड़ कर हमें ब्रह्मा का उपदेश मानकर अपने को भगवान् की कृपा पर छोड़ देना चाहिए।

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव

जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।

स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिः

ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥

"जो लोग अपने प्रतिष्ठित सामाजिक पदों पर बने रहते हुए भी अनुमानित ज्ञान की विधि का बहिष्कार कर देते हैं और मनसा वाचा कर्मणा आपके तथा आपके कार्यों के विवरणों का आदर करते हैं और इन कथाओं में जो कि आपके द्वारा तथा आपके शुद्ध भक्तों द्वारा उच्चारित होती हैं अपना जीवन समर्पित कर देते हैं, वे अवश्य ही आपको जीत लेते हैं, यद्यपि आप तीनों लोकों में किसी के द्वारा जीते नहीं जा सकते (*भागवत* १०.१४.३)।

इस सन्दर्भ में *तैत्तिरीय उपनिषद्* का ब्रह्म विषयक उल्लेख (२.४.१) है—*यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह*—जहाँ शब्द नहीं रहते तथा जहाँ मन नहीं पहुँचता। *ईशोपनिषद्* (४) का कथन है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो

नैतद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्।

तद्धावतोऽन्यान् अत्येति तिष्ठत्

तस्मिन् अपो मातरिश्वा दधाति॥

"अपने धाम में स्थिर रहने पर भी भगवान् मन से भी अधिक तेज हैं और अन्य सारे धावकों को पछाड़ सकते हैं। शक्तिशाली देवता उनके पास फटक नहीं सकते। एक स्थान पर रहते हुए भी वे वर्षा तथा वायु की पूर्ति करने वालों को नियंत्रित करते हैं। वे श्रेष्ठता में सबसे बढ़कर हैं।" ऋग्वेद (३.५४.५) में यह मंत्र आता है—

कोऽद्धा वेद क इह प्रवोचत्

कुत आयाता: कुत इयं विसृष्टि: ।

अर्वाग् देवा विसर्जनेना-

था को वेद यत आ बभूव ॥

"इस जगत में ऐसा कौन है, जो वास्तव में जानता है और यह बतला सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से आई? सारे देवता सृष्टि से छोटे हैं। तब कौन बतला सकता है कि यह जगत कहाँ से आया?"

श्रील श्रीधर स्वामी इस प्रकार प्रार्थना करते हैं—

क्वाहं बुद्ध्यादिसंरुद्ध: क्व च भूमन्महस्तव।

दीनबन्धो दयासिन्धो भक्तिं मे नृहरे दिश॥

"मैं क्या हूँ—सांसारिक बुद्धि इत्यादि के भौतिक आवरणों से बँधा-जीव? हे सर्वशक्तिमान! आपकी महिमा से इसकी क्या तुलना है? हे पतितों के मित्र, हे दया के सागर! भगवान् नरहरि! आप मुझे अपनी भक्ति का वर दें।"

जनिमसत: सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां
विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितै: ।
त्रिगुणमय: पुमानिति भिदा यदबोधकृता
त्वयि न तत: परत्र स भवेदवबोधरसे ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

जनिम्—सृष्टि; असत:—(अणुओं से बने) दृश्य जगत के; सत:—शाश्वत; मृतिम्—संहार; उत—भी; आत्मनि—आत्मा में; ये—जो; च—तथा; भिदाम्—द्वैत; विपणम्—सांसारिक व्यापार; ऋतम्—असली; स्मरन्ति—घोषित करते हैं; उपदिशन्ति—शिक्षा देते हैं; ते—वे; आरुपितै:—सत्य पर चढ़ाया गया मोह; त्रि—तीन; गुण—गुणों से; मय:—निर्मित; पुमान्—जीव; इति—इस प्रकार; भिदा—द्वैत की धारणा; यत्—जो; अबोध—अज्ञान से; कृता—उत्पन्न; त्वयि—तुममें; न—नहीं; तत:—उससे; परत्र—परे; स:—वह (अज्ञान); भवेत्—रह सकता है; अवबोध—पूर्ण चेतना; रसे—संरचना में।

माने हुए विद्वान जो यह घोषित करते हैं कि पदार्थ ही जगत का उद्‌गम है, कि आत्मा के स्थायी गुणों को नष्ट किया जा सकता है, कि आत्मा तथा पदार्थ के पृथक् पक्षों से मिलकर आत्मा बना है या कि भौतिक व्यापारों से सच्चाई बनी हुई है—ऐसे विद्वान उन भ्रान्त विचारों पर अपनी शिक्षाओं को आधारित करते हैं, जो सत्य को छिपाते हैं। यह द्वैत धारणा कि जीव प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न है, अज्ञानजन्य मात्र है। ऐसी धारणा का आपमें कोई आधार नहीं है, क्योंकि आप समस्त भ्रम (मोह) से परे हैं और पूर्ण चेतना का भोग करने वाले हैं।

तात्पर्य : परम पुरुष की वास्तविक स्थिति अत्यन्त रहस्यमय है और उसी तरह जीवात्मा की अधीनावस्था भी। अधिकांश विचारक इन सच्चाइयों के विषय में किसी न किसी हद तक भ्रमित हैं, क्योंकि आत्मा को आच्छादित करने वाली अनेक मिथ्या उपाधियाँ हैं, जो भ्रम उत्पन्न कर सकती हैं। मूर्ख बद्धजीव इन भ्रमों को तो स्वीकार करते ही हैं, लेकिन बड़े बड़े दार्शनिकों तथा योगियों तक की बुद्धि को माया की भ्रामक शक्ति उलट सकती है। इसलिए सत्य के मूल सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाले अनेक परस्पर विरोधी सिद्धान्त हैं।

परम्परागत भारतीय दर्शन में वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग तथा मीमांसा दर्शनों के अनुयायी अपने-अपने भ्रान्तिमूलक विचार रखते हैं, जिसकी ओर साक्षात् वेद इस स्तुति में इंगित कर रहे हैं। वैशेषिकजन कहते हैं कि इस दृश्य ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति परमाणुओं की मूलराशि से हुई (*जनिम् असत:*)। जैसाकि कणाद ऋषि के *वैशेषिक सूत्रों* (७.१.२०) में कहा गया है *नित्यं परिमण्डलम्प* परमाणु जो सबसे लघु आकार का है, नित्य है। कणाद तथा उनके अनुयायी अन्य अ-परमाणुक जीवों के लिए, जिनमें वे आत्माएँ सम्मिलित हैं, जो देहधारी बन जाती हैं, यहाँ तक कि परमात्मा तक के लिए नित्यता की कल्पना करते हैं। लेकिन वैशेषिक दर्शन में आत्माएँ तथा परमात्मा ब्रह्माण्ड की परमाणु रचना में प्रतीकात्मक भूमिका निभाते हैं। श्रील कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने इस मत की आलोचना अपने *वेदान्त सूत्र* (२.२.१२) में की है *उभयथापि न कर्मातस्तदभाव:।* इस सूत्र के अनुसार कोई यह दावा नहीं कर सकता कि सृष्टि के समय परमाणु पहले परस्पर संयोग करते हैं, क्योंकि वे उन्हीं में संलग्न किसी कर्म स्पन्दन से प्रेरित होते हैं। किन्तु संयोग करने के पूर्व परमाणुओं की आदि अवस्था में कोई ऐसा नैतिक उत्तरदायित्व नहीं होता, जिससे वे पाप तथा पुण्य अर्जित कर सकें। न ही परमाणुओं के आदि संयोग की विवेचना जीवों के शेष कर्म के प्रतिफल के रूप में की जा सकती है, क्योंकि ये प्रतिफल जीव के अपने होते हैं और वे एक जीव से दूसरे में स्थानान्तरित नहीं हो सकते, तो फिर निष्क्रिय परमाणुओं का तो कहना ही क्या।

विकल्प के रूप में *जनिम् असत:* से पतञ्जलि ऋषि के योगदर्शन का भाव लिया जा सकता है, क्योंकि उनके योगसूत्र में शिक्षा दी गई है कि किस तरह कोई आसन तथा ध्यान की यांत्रिक विधि से ब्रह्मत्व प्राप्त कर सकता है। पतञ्जलि की योग विधि को यहाँ *असत्* कहा गया है क्योंकि इसमें भक्ति

के अनिवार्य पक्ष—परम पुरुष के प्रति आत्मसमर्पण—की अवहेलना की गई है। जैसाकि भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (१७.२८) में कहा है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह॥

"हे पृथा-पुत्र! यज्ञ, दान या तप के रूप में श्रद्धा के बिना की गई कोई भी वस्तु अस्थायी है। वह असत् कहलाती है और इस जीवन में तथा अगले जीवन दोनों के लिए व्यर्थ होती है।"

योगसूत्र प्रकारान्तर से भगवान् को केवल सहायक के रूप में स्वीकार करता है, जिसका उपयोग बढ़े-चढ़े योगी कर सकते हैं। *ईश्वरप्रणिधानाद् वा*—ईश्वर का भक्तिमय-ध्यान एकाग्रता पाने का एक अन्य साधन है। (*योगसूत्र* १.२३) इसके विपरीत बादरायण वेदव्यास के वेदान्त दर्शन में भक्ति को न केवल मोक्ष का मूल साधन माना गया है, अपितु मोक्ष से अभिन्न माना गया है। *आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्*—भगवान् की पूजा मोक्ष प्राप्त होने तक चलती रहती है और जैसाकि वेद बतलाते हैं मुक्तावस्था में भी चालू रहती है। (*वेदान्त सूत्र* ४.१.१२)

गौतम ऋषि ने *न्यायसूत्र* में प्रस्तावित किया है कि मोह तथा दुख का निषेध करके मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है—*दु:खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम् उत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावाद् अपवर्ग:*—मिथ्या धारणा, बुरा चरित्र, बन्धनकारी कर्म, पुनर्जन्म तथा दुख को क्रमश: दूर करने से ही अन्तिम मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है (*न्यायसूत्र* १.१.२)। क्योंकि एक के मिट जाने से दूसरा मिटने लगता है, लेकिन न्याय दर्शनवेत्ताओं का विश्वास है कि चेतना आत्मा का अनिवार्य गुण नहीं है इसलिए वे शिक्षा देते हैं कि मुक्तात्मा में कोई चेतना नहीं रहती। इस तरह मुक्ति का न्याय विचार आत्मा को मृत पत्थर की अवस्था में रखता है। न्याय दर्शनवेत्ताओं द्वारा आत्मा की आन्तरिक चेतना को मारने के प्रयास को ही यहाँ पर साक्षात् वेदों द्वारा *सतो मृतिम्* कहा गया है। लेकिन *वेदान्त सूत्र* (२.३.१७) एकस्वर से कहता है *ज्ञोऽत एव*—जीवात्मा सदैव ज्ञाता है।

यद्यपि आत्मा चेतन तथा सक्रिय दोनों है, किन्तु सांख्य दर्शन के समर्थक जीवनी शक्ति के इन दोनों कार्यों को गलती से पृथक् करते हैं (*आत्मनि ये च भिदाम्*) और चेतना को आत्मा (*पुरुष*) से तथा सक्रियता को *प्रकृति* से जोड़ते हैं। *सांख्य कारिका* के अनुसार (१९-२०)—

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वं पुरुषस्य।

कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वम् अकर्तृभावश्च॥

''इस प्रकार पुरुषों के मध्य जो अन्तर है, वह ऊपरी है (प्रकृति के गुणों द्वारा आवृत होने से), पुरुष की असली स्थिति साक्षी की है, जो पृथकत्व, अन्यमनस्कता, साक्षी होने के पद तथा उसकी निष्क्रियता से लक्षित है।''

तस्मात् तत्संयोगाद् अचेतनं चेतनावद् इव लिंगम्।

गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥

''इस तरह आत्मा के संसर्ग से अचेतन सूक्ष्मजीव चेतन जान पड़ता है। जबकि आत्मा कर्ता प्रतीत होता है, यद्यपि वह प्रकृति के गुणों की सक्रियता से पृथक् है।''

श्रील व्यासदेव ने *वेदान्त सूत्र* (२.३.३१-३९) के एक अनुभाग में जो *कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्* से प्रारम्भ होता है, इस विचार का खण्डन किया है ''जीवात्मा को कर्मों का कर्ता होना चाहिए, क्योंकि शास्त्रों के आदेशों का कुछ प्रयोजन होता है।'' आचार्य बलदेव विद्याभूषण ने *गोविन्दभाष्य* में बतलाया है कि ''जीव कर्ता है न कि प्रकृति के गुण। क्यों? क्योंकि शास्त्रों के आदेशों का कुछ प्रयोजन होना चाहिए (*शास्त्रार्थवत्त्वात्*)। उदाहरणार्थ ऐसा शास्त्रीय आदेश कि *स्वर्गकामो यजेत* (स्वर्ग की कामना रखने वाले को यज्ञ करना चाहिए) तथा *आत्मानम् एव लोकम् उपासीत* (बृहदारण्यक उपनिषद् १.४.१५) (वैकुण्ठ प्राप्ति के उद्देश्य से पूजा करनी चाहिए) तभी सार्थक हैं, जब किसी चेतन कर्ता का अस्तित्व हो। यदि प्रकृति के गुण कर्ता हों, तो ऐसे कथनों से कोई काम नहीं सरेगा। शास्त्रीय आदेश जीव को नियत कर्मों को करने में इसीलिए लगाते हैं, जिससे उसे कुछ भोगने योग्य फल मिलें। अचेतन गुण में ऐसी प्रवृत्ति को जागृत नहीं किया जा सकता।''

जैमिनि ऋषि ने *पूर्वमीमांसा सूत्र* में भौतिक कर्म तथा उसके फल को सत्य रूप में (*विपणम् ऋतम्*) प्रस्तुत किया है। वे तथा कर्म मीमांसा के अनेक धुरंधर यह शिक्षा देते हैं कि यह जगत असीम है और कोई मुक्ति नहीं है। उनके लिए कर्म चक्र शाश्वत है और अधिक से अधिक यह लक्ष्य बनाया जा सकता है कि देवताओं के बीच जन्म हो। अतएव वे यही कहते हैं कि वेदों का सारा उद्देश्य मनुष्यों को सद्कर्म उत्पन्न करने के लिए विधि-विधानों में लगाना है। इस तरह परिपक्व आत्मा का

मुख्य कर्तव्य वेदों के यज्ञ विषयक आदेशों के सही अर्थ को समझना और उन्हें सम्पन्न करना है। *चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः*—कर्तव्य वह है, जो वेदों के आदेशों द्वारा सूचित होता है। (*पूर्वमीमांसा सूत्र* १.१.२)

किन्तु *वेदान्त सूत्र* के चतुर्थ अध्याय में, जिसमें जीवन के चरम लक्ष्य का वर्णन हुआ है, जन्म तथा मृत्यु से मोक्ष प्राप्त करने की आत्मा की क्षमता का विस्तृत वर्णन मिलता है, जिसमें यज्ञ के विधि-विधानों को आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता में सहायता देने के अधीन माना गया है। जैसाकि *वेदान्त सूत्र* (४.१.१६) में कहा गया है *अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद् दर्शनात्* अग्निहोत्र तथा अन्य वैदिक यज्ञ ज्ञान उत्पन्न करने के निमित्त हैं, जैसाकि वेदों के कथन से दर्शित होता है। *वेदान्त सूत्र* (४.४.२२) के अन्तिम शब्दों में भी यही घोषणा है कि *अनावृत्तिः शब्दात्*—जैसाकि शास्त्र वचन देते हैं, मुक्तात्मा कभी इस जगत में वापस नहीं आता।

इस तरह अनुमान पर आधारित ज्ञानियों के भ्रमकारी निष्कर्ष सिद्ध करते हैं कि बड़े-बड़े विद्वान तथा मुनिजन भी प्रायः अपनी ईश्वरप्रदत्त बुद्धि के दुष्प्रयोग से मोहग्रस्त हो जाते हैं। *कठ उपनिषद्* का कथन है (१.२.५)—

अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमानाः

स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।

जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा

अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

"अज्ञान के चंगुल में पड़ कर तथाकथित विशिष्टजन अपने आपको विद्वान मान लेते हैं। वे इस संसार में मूर्ख बनकर उसी तरह घूमते हैं, जैसे कि किसी एक अन्धे के द्वारा ले जाया जाने वाला अन्य अंधा।"

सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त इन छः परंपरागत वैदिक दर्शनों में से केवल बादरायण व्यास कृत वेदान्त ही त्रुटिरहित है और वह भी जब उसकी व्याख्या प्रामाणिक वैष्णव आचार्यों द्वारा हुई हो। तो भी इन छहों मतों में से हर एक का वैदिक शिक्षा के विषय में कुछ न कुछ योगदान है। नास्तिक सांख्य प्राकृतिक तत्त्वों का विकास सूक्ष्म तत्त्वों से स्थूल की ओर बतलाता है,

पतञ्जलि का योग ध्यान की आठ विधियों का वर्णन करता है, न्याय तर्क की विधियाँ प्रस्तुत करता है, वैशेषिक सत्य की मूलभूत आध्यात्मिक कोटियों पर विचार करता है और मीमांसा शास्त्रों की व्याख्या के मानक उपकरण जुटाता है। इस छहों के अतिरिक्त भी बौद्ध, जैन तथा चार्वाक दर्शन हैं, जिनके शून्यवाद तथा भौतिकतावाद नित्य आत्मा की आध्यात्मिकता से इनकार करते हैं।

अन्ततोगत्वा केवल ईश्वर ही ज्ञान के विश्वसनीय स्रोत बचते हैं। भगवान् *अवबोध-रस*—अबाध दृष्टि के असीम आगार हैं। जो दृढ़ संकल्प के साथ उन पर निर्भर रहते हैं, उन्हें वे ज्ञान का दिव्य चक्षु प्रदान करते हैं। अन्य लोग जो अपने अपने सिद्धान्तों में लगे रहते हैं, उन्हें माया के धुंधले पर्दे से होकर सत्य को खोजना पड़ता है।

श्रील श्रीधर स्वामी स्तुति करते हैं—

मिथ्या तर्क सुकर्कशेरितमहा वादान्धकारान्तर-

भ्राम्यन्मन्दमतेरमन्दमहिमंस्त्वद्ज्ञानवर्त्मास्फुटम् ।

श्रीमन्माधव वामन त्रिनयन श्रीशंकर श्रीपते

गोविन्देति मुदा वदन् मधुपते मुक्तः कदा स्यामहम्॥

"मिथ्या तर्क की कटु विधियों द्वारा पल्लवित उन उच्च दर्शनों के अंधकार में घूमने वाली मोहग्रस्त आत्मा के लिए, हे दिव्य यश के स्वामी! आपका असली ज्ञान अलक्षित रहता है। हे मधुपति, लक्ष्मीपति! मैं माधव, वामन, त्रिनयन, श्रीशंकर, श्रीपति तथा गोविन्द आदि आपके नामों का प्रसन्नतापूर्वक उच्चारण करते हुए कब मुक्ति प्राप्त करूँगा?

सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्
सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयात्मविदः ।
न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सत्—सत्य; इव—मानो; मनः—मन (तथा इसके प्राकट्य); त्रि-वृत्—तीन (प्रकृति के गुण); त्वयि—तुममें; विभाति—प्रकट होता है; असत्—असत्य; आ-मनुजात्—मनुष्यों तक; सत्—सत्य स्वरूप; अभिमृशन्ति—वे मानते हैं; अशेषम्—सम्पूर्ण; इदम्—इस (जगत) को; आत्मतया—आत्मा से अभिन्न रूप में; आत्म-विदः—आत्मा को जानने वाले; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; विकृतिम्—विकारों को; त्यजन्ति—परित्याग कर देते हैं; कनकस्य—स्वर्ण का; तत्-आत्मतया—जितना कि वे इससे अभिन्न हैं; स्व—अपने द्वारा; कृतम्—उत्पन्न; अनुप्रविष्टम्—तथा प्रविष्ट हुए; इदम्—इस; आत्मतया—अपने से अभिन्न; अवसितम्—सुनिश्चित।

इस जगत में सारी वस्तुएँ—सरलतम घटना से लेकर जटिल मानव-शरीर तक—प्रकृति के तीन गुणों से बनी हैं। यद्यपि ये घटनाएँ सत्य प्रतीत होती हैं, किन्तु वे आध्यात्मिक सत्य की मिथ्या प्रतिबिम्ब होती हैं, वे आप पर मन के अध्यारोपण हैं। फिर भी जो लोग परमात्मा को जानते हैं, वे सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि को सत्य तथा साथ ही साथ आपसे अभिन्न मानते हैं। जिस तरह स्वर्ण की बनी वस्तुओं को, इसलिए अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे असली सोने की बनी हैं, उसी तरह यह जगत उन भगवान् से अभिन्न है, जिसने इसे बनाया और फिर वे उसमें प्रविष्ट हो गये।

तात्पर्य : एक दृष्टि से दृश्य जगत सत्य (*सत्*) है और दूसरे वह नहीं (*असत्*) भी है। इस ब्रह्माण्ड का सार-तत्त्व यथार्थ है, क्योंकि वह भगवान् की बहिरंगा शक्ति है, किन्तु माया इस वस्तु को जो-जो स्वरूप धारण कराती है केवल वे नश्वर हैं। चूँकि ये स्वभौतिक स्वरूप क्षणिक (नाशवान्) हैं अतएव जो उन्हें स्थायी मानते हैं, वे भ्रम में हैं। किन्तु निर्विशेषवादी पंडित *सत्* तथा *असत्* के विभाजन की गलत व्याख्या करते हैं, वे सामान्य सच्चाई की अवहेलना करते हुए यह घोषित करते हैं कि न केवल भौतिक स्वरूप अपितु भौतिक वस्तु भी असत्य है और वे अपनी आत्मा को परम पूर्ण होने की गलती कर बैठते हैं। पिछली स्तुति में साक्षात् वेदों द्वारा कहे गये इन शब्दों *त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा* को मायावादी दार्शनिक परमात्मा तथा जीवात्मा का अन्तर नहीं मानते। वे यह कहेंगे कि जीव का भौतिक स्वरूप तीन गुणों का क्षणिक प्रदर्शन है, अतएव जब ज्ञान द्वारा जीव का अज्ञान नष्ट हो जाता है, तो वह परमात्मा बन जाता है। बन्धन, मुक्ति तथा दृश्य जगत अज्ञान की ही असत्य सृष्टियाँ हैं। ऐसे विचारों के उत्तर स्वरूप वेद यहाँ पर सत् तथा असत् के वास्तविक सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं।

श्रुतियों में हमें यह कथन मिलता है *असतोऽधिमनोऽसृज्यत, मनः प्रजापतिम् असृजत्, प्रजापतिः प्रजा असृजत्, तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितं यदिदं किं च* प्रारम्भ में परम मन की सृष्टि असत् से हुई। इस मन से प्रजापति की और प्रजापति से सारे जीवों की सृष्टि हुई। इस तरह इस जगत में विद्यमान सारी वस्तुओं की चरम नींव एकमात्र मन है। यद्यपि निर्विशेषवादी इसका यह अर्थ लगा सकते हैं कि सारा दृश्य जगत मोह की असत्यता (असत्) पर आधारित है, जबकि यहाँ पर असत् शब्द का वास्तविक अर्थ मूल कारण, परमेश्वर है, क्योंकि वे भौतिक जगत से परे (सत्) हैं। वेदान्त सूत्र का

तर्क (२.१.१७) इस व्याख्या की पुष्टि करता है और निर्विशेषवादियों की गलत व्याख्या को नहीं मानता *असद् व्यपदेशान् नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्यदि* किसी को यह आपत्ति है कि यह भौतिक जगत तथा इसका स्रोत एक ही वस्तु नहीं हो सकते, क्योंकि जगत को *असत्* कहा गया है, तो हमारा उत्तर होगा, ''नहीं! क्योंकि यह कथन कि ब्रह्म *असत्* है, उनके गुण सृष्टि से भिन्न होने के कारण सार्थक है।'' इस प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् (२.७.१) में कहा गया है *असद् वा इदमग्र आसीत्* इस सृष्टि के प्रारम्भ में केवल असत् विद्यमान था।

श्रील जीव गोस्वामी के मतानुसार उपर्युक्त अंश में आया हुआ *अधिमन:* शब्द ब्रह्माण्ड के संयुक्त मन के शासक, भगवान् अनिरुद्ध का द्योतक है, जो श्री नारायण के स्वांश रूप में तब प्रकट होता है, जब वे सृष्टि करना चाहते हैं। प्रजापति तो ब्रह्मा हैं और अन्य सभी उत्पन्न जीवों के पिता हैं। इसका वर्णन *महानारायण उपनिषद्* (१.४) में मिलता है *अथ पुनरेव नारायण: सोऽन्यं कामं मनसा ध्यायेत। तस्य ध्यानान्त:स्थस्य ललनात् स्वेदोऽपतत्। ता इमा प्रतताप तासु तेजो हिरण्मयम् अण्डं तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत।* ''तब नारायण ने अपनी दूसरी इच्छा का ध्यान किया और जब वे सोच रहे थे, तो उनके मस्तक से पसीने की एक बूँद गिरी। इसी बूँद के खमीर बनने से समस्त भौतिक सृष्टि का विकास हुआ। उसमें से अग्नि तुल्य ब्रह्माण्ड का सुनहरी अण्डा निकला और उसके भीतर चतुर्मुख ब्रह्मा ने जन्म लिया।''

जब कोई वस्तु बनाई जाती है, तो वह उसके अवयव कारण के विकार रूप में प्रकट होती है, जैसे कि सोने से बने आभूषण। जिस व्यक्ति को स्वर्ण की इच्छा होगी वह सोने के कुण्डलों या हार को ठुकरायेगा नहीं, क्योंकि ये वस्तुएँ भी स्वर्ण हैं, यद्यपि ये परिवर्धित हैं। इस सांसारिक उदाहरण में सच्चे ज्ञानी लोग पुरुष तथा उनके भौतिक और दिव्य दोनों प्रकार के अंशों में भेदाभेद साम्य देखते हैं। इस तरह यह दिव्य ज्ञान उन्हें मोह के बंधन से मुक्त कराता है, क्योंकि तब वे भगवान् की समूची सृष्टि में भगवान् का दर्शन पा सकते हैं।

श्री श्रीधर स्वामी स्तुति करते हैं—

यत् सत्त्वत: सदा भाति जगदेतद् असत् स्वत:।

सदाभासमसत्यस्मिन् भगवन्तं भजाम तम्॥

"हम उन भगवान् की पूजा करें, जिनके भौतिक अस्तित्व से यह सृष्ट जगत शाश्वत रूप से विद्यमान प्रतीत होता है, यद्यपि यह *असत्* है। परमात्मा रूप में वे इस *असत्* के भीतर *सत्* का प्रतिनिधित्व करते हैं।"

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया
त उत पदाक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निरृतेः ।
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तांस्
त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः ॥ २७॥

शब्दार्थ

तव—तुम्हारी; परि ये चरन्ति—जो पूजा करते हैं; अखिल—सबों के; सत्त्व—उत्पन्न जीव; निकेततया—आश्रय के रूप में; ते—वे; उत—केवल; पदा—अपने पैरों से; आक्रमन्ति—रखते हैं; अविगणय्य—अवहेलना करके; शिरः—सिर पर; निरृतेः—मृत्यु के; परिवयसे—तुम बाँध देते हो; पशून् इव—पशुओं की तरह; गिरा—आपके (वेद के) शब्दों से; विबुधान्—चतुर; अपि—भी; तान्—उनके; त्वयि—जिसको; कृत—बनाने वाले; सौहृदाः—मैत्री; खलु—निस्सन्देह; पुनन्ति—पवित्र करते हैं; न—नहीं; ये—जो; विमुखाः—शत्रुतापूर्ण।

जो भक्त आपको समस्त जीवों के आश्रय रूप में पूजते हैं, वे मृत्यु की परवाह नहीं करते और उनके सिर पर आप अपना चरण रखते हैं, लेकिन आप वेदों के शब्दों से अभक्तों को पशुओं की तरह बाँध लेते हैं, भले ही वे प्रकाण्ड विद्वान क्यों न हों। आपके स्नेहिल भक्तगण ही अपने को तथा अन्यों को शुद्ध कर सकते हैं, आपके प्रति शत्रु-भाव रखने वाले नहीं।

तात्पर्य : अब साक्षात् वेद अनेक विरोधी मतों के त्रुटिपूर्ण दर्शनों को एक तरफ रख देते हैं वैशेषिकों का *असद् उत्पत्तिवाद,* जो सृष्टि का स्रोत भौतिक मानते हैं, नैयायिकों का *सद्विनाशवाद,* जो मुक्तात्मा को चेतनारहित बताते हैं, सांख्यों का *सगुणत्वभेदवाद,* जो आत्मा को उसके ऊपरी गुणों से पृथक् कर देते हैं, मीमांसकों का *विपणवाद,* जो कर्म-व्यापार में आत्मा के नित्य संलग्न रहने की भर्त्सना करते हैं तथा मायावादियों का *विवर्तवाद* जो इस जगत में आत्मा के असली जीवन को मायाजाल (भ्रम) तक नीचे ला देते हैं। साक्षात् वेद इन सारे वादों को नकार कर अब भक्ति का दर्शन, *परिचर्यावाद* प्रस्तुत कर रहे हैं।

इस दर्शन को मानने वाले वैष्णव यह शिक्षा देते हैं कि जीवात्मा उस आध्यात्मिक पुरुष का एक परमाणु-कण है, जिसमें सूक्ष्म ज्ञान होता है, जो स्वतंत्र नहीं होता तथा जिसमें भौतिक गुण नहीं होते। सूक्ष्म होने से वह भौतिक शक्ति के वशीभूत हो सकता है, जहाँ वह भौतिक जीवन के कष्ट सहता है।

वह भगवान् की भक्ति करके ही अपने कष्टों को दूर कर सकता है तथा भगवान् की दिव्य अन्तरंगा शक्ति की शरण फिर से पा सकता है न कि सकाम कर्म, कल्पित ज्ञान या अन्य किसी विधि से।

भगवान् कृष्ण अपने ही शब्दों में (*भागवत* ११.१४.२१) कहते हैं—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्।

भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकान् अपि सम्भवात्॥

''पूर्ण श्रद्धा के साथ मेरी अनन्य भक्ति करके ही मनुष्य मुझ भगवान् को प्राप्त कर सकता है। मैं स्वभावतः अपने भक्तों को प्रिय हूँ, जो मुझे अपनी प्रेमपूर्ण सेवा का एकमात्र लक्ष्य समझते हैं। ऐसी शुद्ध भक्ति में लगने से चाण्डाल भी अपने अधम जन्म के कल्मष को धो डालते हैं।''

भगवान् के भक्त उनकी पूजा प्रत्येक विद्यमान वस्तु (अखिल सत्त्व) के आश्रय (*निकेत*) के रूप में करते हैं। ये वैष्णव भक्त *अखिल-सत्त्व-निकेत* कहे जा सकते हैं, क्योंकि इनका धाम तथा आश्रय भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही जगतों की सत्यता (*सत्त्वम्*) का दार्शनिक सत्य होता है। इसीलिए श्रीपाद मध्वाचार्य ने अपने *वेदान्त सूत्र भाष्य* में यह श्रुतिमंत्र उद्‌धृत किया है *सत्यं ह्येवेदं विश्वमसृजत* उसने इस जगत की सत्य रूप में रचना की। *श्रीमद्‌भागवत* के सप्तम स्कंध (७.१.११) में *प्रधान पुम्भ्यां नरदेव सत्यकृत* अर्थात् परमेश्वर को पदार्थ तथा जीवों के असली ब्रह्माण्ड का स्त्रष्टा कहा है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *अखिल-सत्त्व-निकेत* का एक अन्य ही गुह्य अर्थ सुझाया है कि भगवान् के निजी धाम किसी तरह भी *खिल* अर्थात् अपूर्ण नहीं हैं, अतएव वैकुण्ठ अर्थात् चिन्ता तथा सीमा से मुक्त प्रदेश कहलाते हैं। भगवान् ने कृपा करके जिन वैष्णवों की भक्ति स्वीकार कर ली है वे भगवान् द्वारा अपनी सुरक्षा के प्रति इतने निश्चिन्त रहते हैं कि वे मृत्यु से डरते नहीं। मृत्यु उनके लिए अपने नित्य धाम वापस जाने की सहज सीढ़ी बन जाती है।

किन्तु क्या मृत्यु-भय से मुक्ति के हेतु भगवद्‌भक्त ही योग्य होते हैं? अन्य सभी योगी और विद्वान क्यों अयोग्य हैं? यहाँ पर श्रुतियाँ उत्तर देती हैं''जो भी विमुख है, अर्थात् जिसने उनकी कृपा पाने के लिए उनकी ओर अपना मुख भी नहीं फेरा वह वेदों के उन्हीं शब्दों के द्वारा मोहबद्ध हो जाता है, जो शरणागत भक्तों को प्रकाशित करते हैं।'' वेद स्वयं चेतावनी देते हैं *तस्य वाक्तन्तिर्नामानि दामानि। तस्येदं वाचा तन्त्या नामभिर्दामभिः सर्वं सितम्* ''इस दिव्य ध्वनि के धागों से पवित्र नामों की डोरी

बनती है, किन्तु इन्हीं से बाँधने की रस्सियाँ भी। सारे वेद अपने आदेशों की रस्सी से सम्पूर्ण संसार को बाँध देते हैं, जिससे सारे जीव मिथ्या उपाधि से जकड़ जाते हैं।''

आत्मा तथा परमात्मा की सत्यता *अपरोक्ष-बोधगम्य* है, किन्तु केवल उसके लिए जिसे दिव्य दृष्टि प्राप्त हो। अशुद्ध हृदय वाले दार्शनिकजन भूलवश मान बैठते हैं कि यह सत्य *परोक्ष* है अर्थात् इसका चिन्तन तो किया जा सकता है, प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया जा सकता। ऐसे विचारकों का ज्ञान सत्य के छोटे-छोटे पक्षों के विषय में उनके संन्देहों और भ्रांतियों को दूर करने में सहायता कर सकता है, किन्तु भौतिक मोह को लाँघने तथा ब्रह्म के निकट पहुँचने के लिए यह व्यर्थ है। समान्यतया केवल वे भक्त *अपरोक्ष ज्ञान* के रूप में उनकी महानता और अद्भुत दया का सीधा साक्षात्कार प्राप्त करते रहते हैं, जो पूर्ण शुद्धि पाने तक भगवान् की प्रेमाभक्ति करते रहते हैं। हाँ, भगवान् चाहें तो अयोग्य पर भी कृपा प्रदान कर सकते हैं, जैसाकि वे आक्रमणकारी असुरों का वध करते समय करते हैं, किन्तु वे मायावादियों तथा अन्य नास्तिक दार्शनिकों को आशीर्वाद नहीं देना चाहते।

किन्तु यह नहीं सोचना चाहिए कि विष्णु के भक्त अज्ञानी हैं, क्योंकि वे दार्शनिक विश्लेषण तथा तर्क में दक्ष नहीं भी हो सकते। आत्मा का पूर्ण साक्षात्कार केवल अपने प्रयासों से मानसिक चिंतन के द्वारा नहीं, अपितु भगवान् की दया प्राप्त करके किया जा सकता है। यह बात हमें वैदिक प्रमाण में (*कठ उपनिषद्* २.२.२३ *तथा मुण्डक उपनिषद्* ३.२.३) सुनाई पड़ती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो

न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य

स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

''इस परमात्मा तक न तो तर्क द्वारा, न ही स्वतंत्र मस्तिष्क-शक्ति लगाकर, न अनेक शास्त्रों का अध्ययन करके पहुँचा जा सकता है। प्रत्युत वह व्यक्ति ही उसे पा सकता है, जिसको वह स्वयं कृपा करने के लिए चुन ले। उस व्यक्ति को आत्मा अपना असली साकार स्वरूप प्रकट कर देता है।''

श्रुति में अन्यत्र भक्त की सफलता का वर्णन मिलता है—*देहान्ते देव: परमं ब्रह्म तारकं व्यचष्टे* इस शरीर का अन्त होने पर पवित्र आत्मा परमेश्वर को उतना ही स्पष्ट देखता है, जितना आकाश के तारे

दिखते हैं। *श्वेताश्वतर उपनिषद्* के अन्तिम कथन में (६.२३) कामना करने वाले वैष्णवों को यह प्रोत्साहन दिया गया है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

''जिन महात्माओं को भगवान् तथा गुरु में अटूट श्रद्धा होती है उन्हें ही वैदिक ज्ञान के सारे भावार्थ स्वतः प्रकट होते हैं।''

इस सम्बन्ध में श्रील जीव गोस्वामी *श्वेताश्वतर उपनिषद्* के अन्य श्लोक (४.७-८ तथा ४.१३) उद्धृत करते हैं—

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्

अस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

ऋचोऽक्षरे परे व्योमन् यस्मिन्

देवा अधि विश्वे निषेदुः।

यस्तं वेद किम् ऋचा करिष्यति

य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥

''परमेश्वर वह है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद के मंत्रों में होता है, जो सर्वोच्च नित्य आकाश में रहता है तथा जो अपने सन्त-भक्तों को उसी पद की साझेदारी करने के लिए ऊँचे उठाता है। जिसने उसके प्रति शुद्ध प्रेम उत्पन्न कर लिया है और जो उनकी अद्वितीयता को समझता है, वह तब उनके यश की प्रशंसा करता है तथा दुख से मुक्त हो जाता है। जो व्यक्ति उस परमेश्वर को जानता है भला उसका ऋग्वेद के मंत्र और कौन-सा कल्याण कर सकते हैं? जो कोई भी उन्हें जान लेता है परमगति को प्राप्त होता है।

यो वेदानां अधिपो यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः।

य ईशोऽस्य द्विपदश्चतुष्पदस्तस्मै देवाय हविषा विधेम्॥

''जो सारे वेदों के स्वामी हैं, जिनमें सारे लोक टिके हैं, जो समस्त ज्ञात जीवों, दो पैर वालों तथा चौपायों के स्वामी हैं, हम उन्हीं भगवान् की पूजा घी की आहुतियों से करते हैं।''

श्रील श्रीधर स्वामी मुमुक्षुओं का उल्लेख करते हुए प्रार्थना करते हैं—

तपन्तु तापै प्रपतन्तु पर्वताद् अटन्तु तीर्थानि पठन्तु चागमान्।

यजन्तु यागैर्विवदन्तु वादैर्हरिम् विना नैव मृतिम् तरन्ति॥

"भले ही वे तपस्या करें, अपने को पर्वत की चोटियों से गिरायें, तीर्थस्थलों की यात्रा करें, शास्त्र पढ़ें, अग्नि यज्ञों से पूजा करें और अनेक दर्शनों के विषय में तर्क करें, किन्तु हरि के बिना वे मृत्यु से आगे तैर नहीं सकते।"

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधरस्
तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः ।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; अकरणः—भौतिक इन्द्रियों से विहीन; स्व-राट्—आत्म तेजोमय; अखिल—समस्त; कारक—एन्द्रिय कार्यों की; शक्ति—शक्तियों के; धरः—धारण करने वाले; तव—तुम्हारी; बलिम्—भेंट; उद्वहन्ति—ले जाते हैं; समदन्ति—हिस्सा बँटाते हैं; अजया—प्रकृति के साथ; अनिमिषाः—देवतागण; वर्ष—राज्य के जनपदों के; भुजः—शासक; अखिल—समस्त; क्षिति—पृथ्वी के; पतेः—स्वामी के; इव—सदृश; विश्व—ब्रह्माण्ड के; सृजः—स्रष्टा; विदधति—सम्पन्न करते हैं; यत्र—जिसमें; ये—वे; तु—निस्सन्देह; अधिकृता—नियत; भवतः—आपका; चकिताः—भयभीत।

यद्यपि आपकी भौतिक इन्द्रियाँ नहीं हैं, किन्तु आप हर एक की इन्द्रिय-शक्ति के आत्म-तेजवान धारणकर्ता हैं। देवता तथा प्रकृति स्वयं आपकी पूजा करते हैं, जबकि अपने पूजा करने वालों द्वारा अर्पित भेंट का भोग भी करते हैं, जिस तरह किसी राज्य के विविध जनपदों के अधीन शासक अपने स्वामी को, जो कि पृथ्वी का चरम स्वामी होता है, भेंटें प्रदान करते हैं और साथ ही स्वयं अपनी प्रजा द्वारा प्रदत्त भेंट का भोग भी करते हैं। इस तरह आपके भय से ब्रह्माण्ड के स्रष्टा अपने अपने नियत कार्यों को श्रद्धापूर्वक सम्पन्न करते हैं।

तात्पर्य : सारे बुद्धिमान जीवों को भगवान् की सर्वसत्ता स्वीकार करनी चाहिए और स्वेच्छा से उनकी भक्ति में संलग्न होना चाहिए। साक्षात् वेदों का यही एकमत है। किन्तु इन स्तुतियों को सुनते समय नारायण ने ठीक ही पूछा होगा, "चूँकि इन्द्रियों तथा अंगों से युक्त मेरा भी शारीरिक रूप है, तो फिर क्या मैं दूसरा कर्ता तथा भोक्ता नहीं हूँ? विशेषरूप से तब जबकि मैं परमात्मा रूप में प्रत्येक जीव के हृदय में रहकर असंख्य अंगों-प्रत्यंगों का निरीक्षण करता हूँ, तो यह कैसे हो सकता है कि मैं सबों

की समूची इन्द्रिय-तृप्ति में न गिना जाऊँ?" समवेत श्रुतियाँ यहाँ मिलकर कहती हैं, "नहीं। आपके भौतिक इन्द्रियाँ नहीं हैं, तो भी आप सबों के परम नियन्ता हैं।" जैसाकि *श्वेताश्वतर उपनिषद्* (३.१८) में व्यक्त हुआ है—

अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥

"उसके पैर या हाथ नहीं हैं, फिर भी वह सबसे तेज दौड़ने वाला है और किसी भी वस्तु को पकड़ सकता है। यद्यपि वह आँखों या कानों से रहित है, तो भी वह देखता-सुनता है। उसे कोई नहीं जानता फिर भी वह ज्ञाता तथा ज्ञेय है। मुनिगण उसे परम आदि भगवान् के रूप में बतलाते हैं।"

परम पुरुष के हाथ, पाँव, आँखें तथा कान सामान्य बद्ध आत्मा जैसे नहीं होते, जो मिथ्या अहंकार से एवं भौतिक पदार्थ होते हैं। प्रत्युत भगवान् का दिव्य सुन्दर स्वरूप उनकी अन्तरंगा प्रकृति की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार बद्धजीवों के आत्मा तथा शरीर से भिन्न भगवान् तथा उनका स्वरूप सभी प्रकार से एकरूप हैं। साथ ही, उनके कमल-हाथ, कमल-चरण, कमल-नेत्र तथा अन्य अंग अपने कार्यों तक सीमित नहीं होते। भगवान् द्वारा उत्पन्न प्रथम जीव ब्रह्मा ने इसीलिए उनका यशोगान किया है—

अंगानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति

पश्यन्ति पान्ति कलयन्ति चिरं जगन्ति।

आनन्दचिन्मयसदुज्ज्वलविग्रहस्य

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जिनका दिव्य रूप आनन्द, सत्य तथा सार से पूर्ण है और जिससे अत्यन्त तेजपूर्ण प्रकाश निकलता है। उस दिव्य शरीर का प्रत्येक अंग सारे अंगों के सारे कार्यकलापों से युक्त होता है और आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों ही अनन्त ब्रह्माण्डों को नित्य देखता, पालन करता और प्रकट करता है।" (*ब्रह्म-संहिता* ५.३२)

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने *अखिल शक्तिधर* का दूसरा अर्थ भी दिया है भगवान् जिस शक्ति को अपने भीतर धारण करते हैं वह *अखिल* है अर्थात् *खिल* या निम्न तथा तुच्छ के प्रतिबन्धों से मुक्त है।

वह जीव की इन्द्रियों को शक्ति प्रदान करता है, जैसाकि *केन उपनिषदथ* (१.२) में कहा गया है *श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचम्व* ''वह कान का कान, मन का मन और वाणी की वाणी शक्ति है।'' और *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में भी (६.८) घोषणा है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते

न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

''उन्हें कोई कार्य नहीं करना पड़ता, न ही उनके कोई भौतिक इन्द्रियाँ होती हैं, जिनसे यह कार्य किया जाय। न तो कोई उनके तुल्य है, न उनसे बढ़कर है। वेदों से हम सुनते हैं कि भगवान् की नाना प्रकार की शक्तियाँ हैं यथा ज्ञान, बल तथा क्रिया की शक्तियाँ जिनमें से हर एक स्वतंत्र रूप से कार्य करती है।''

मर्त्य जीवों पर शासन करने वाले इन्द्र तथा अन्य देवता तो स्वयं भगवान् के दास हैं। वैसे ही इनसे भी श्रेष्ठ ब्रह्मा तथा उनके पुत्र भी दास हैं। ये सारे महान् देवता तथा ऋषिगण ब्रह्माण्ड का पालन करने तथा मानव जाति को धार्मिक मार्गदर्शन प्रदान करने के अपने अपने कार्य करके भगवान् की पूजा करते हैं।

ब्रह्माण्ड के शक्तिशाली नियन्ता भयपूर्ण आदर से परम नियन्ता श्री विष्णु की शरण ग्रहण करते हैं। जैसाकि *तैत्तिरीय उपनिषद्* (२.८.१) में कहा गया है—

भीषास्माद् वातः पवते भीषाद् एति सूर्यः।

भीषास्माद् अग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

''वायु उनके भय से चलता है। उनके ही भय से सूर्य गति करता है और अग्नि तथा इन्द्र अपना अपना कार्य करते हैं। और मृत्यु, जिसका स्थान पाँचवा है, उनके भय से भागता रहता है।''

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

अनिन्द्रियोऽपि यो देवः सर्वकारकशक्तिधृक्।

सर्वज्ञः सर्वकर्ता च सर्वसेव्यं नमामि तम्॥

"भगवान् के कोई इन्द्रिय नहीं है, फिर भी वह प्रत्येक जीव के ऐन्द्रिय कार्यों को नियंत्रित करता है। वे हर वस्तु के जानने वाले, समस्त कार्य के चरमकर्ता तथा हर एक की भक्ति के समुचित लक्ष्य हैं। मैं उनको नमस्कार करता हूँ।"

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो
विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः ।
न हि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेद्
वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

स्थिर—जड़; चर—तथा चेतन; जातयः—योनियाँ; स्युः—प्रकट हुईं; अजया—भौतिक शक्ति से; उत्थ—जागृत की गई; निमित्त—कारण (तथा ऐसे कारण से क्रियाशील बनाये गये सूक्ष्म शरीर); युजः—धारण करके; विहरः—खेल; उदीक्षया—आपकी टुक चितवन से; यदि—यदि; परस्य—उसका, जो पृथक् रहता है; विमुक्त—हे नित्य मुक्त; ततः—उससे; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; परमस्य—परम का; कश्चित्—कोई; अपरः—पराया नहीं; न—न तो; परः—पराया; च—भी; भवेत्—हो सकता है; वियतः—आकाश के लिए; इव—सदृश; अपदस्य—अनुभवगम्य गुणों से विहीन; तव—तुम्हारा; शून्य—शून्य; तुलाम्—तुलना; दधतः—जो धारण करते हैं।

हे नित्यमुक्त दिव्य भगवान्, आपकी भौतिक शक्ति विविध जड़ तथा चेतन जीव योनियों को उनकी भौतिक इच्छाएँ जगाकर प्रकट कराती है, लेकिन ऐसा तभी होता है, जब आप उस पर अल्प दृष्टि डालकर उसके साथ क्रीड़ा करते हैं।

हे भगवान्, आप किसी को न तो अपना घनिष्ठ मित्र मानते हैं, न ही पराया, ठीक उसी तरह जिस तरह आकाश का अनुभवगम्य गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस मामले में आप शून्य के समान हैं।

तात्पर्य : न केवल सारे जीव अपने पालन-पोषण तथा कल्याण के लिए सर्वशक्तिमान स्वतंत्र भगवान् पर पूरी तरह निर्भर रहते हैं, अपितु उनका सारा देहधारी अस्तित्व उनकी अपार दया के ही कारण होता है। भगवान् को भौतिक व्यापारों में कोई रुचि नहीं रहती, क्योंकि उन्हें इस जगत के क्षुद्र आनन्दों से कुछ भी नहीं लेना होता। वे ईर्ष्या या वासना के किसी भी कल्मष से पूरी तरह मुक्त रहते हैं। वे अपनी दैवी शक्तियों के भीतरी लोक में अपने शुद्ध भक्तों के साथ गुह्य प्रेम-लीलाओं में पूरी तरह व्यस्त रहते हैं। अतएव यदि वे भौतिक सृष्टि के कार्य की ओर कभी मुड़ते हैं, तो उन पतितात्माओं को अपने नित्य आनन्द लोक में खींचकर लाने के लिए ऐसा करते हैं।

भगवान् से पृथक् जीवन बिताने के लिए विद्रोही आत्माओं को उपयुक्त शरीर तथा मोहमय परिवेश

प्रदान किया जाना चाहिए, जिसमें वे स्वतंत्रतापूर्वक विलास-कार्य कर सकें। दयामय प्रभु उन्हें अपनी राह में चल कर अपने आप सीखने के लिए सहमत हो जाते हैं, अतएव वे अपनी भौतिक सृजन की शक्ति महामाया पर दृष्टि डालते हैं। इस दृष्टि के पड़ने से ही वह जाग जाती है और उनकी ओर से सारी व्यवस्था करने लगती है। वह तथा उसके सहायकगण देवताओं, मनुष्यों, पशुओं आदि के असंख्य स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर निर्मित करते हैं। उसी के साथ वे स्वर्ग तथा नरक-लोकों में असंख्य परिस्थितियाँ भी उत्पन्न करते हैं, जिससे बद्धजीवों को उनकी इच्छानुसार तथा योग्यतानुसार सुविधाएँ प्राप्त हो सकें।

भले ही कोई अनजान व्यक्ति प्राणियों के कष्ट के लिए ईश्वर को दोष दे, किन्तु वैदिक वाङ्मय का सच्चा अध्येता प्रत्येक आत्मा के लिए भगवान् की एकसमान चिन्ता की प्रशंसा किये बिना नहीं रहता। चूँकि उन्हें कुछ लेना-देना नहीं रहता, इसलिए वे मित्रों तथा विरोधियों में भेदभाव क्यों रखें? भले ही हम उनका विरोध करने की ठान लें और उन्हें भुलाने के सारे प्रयत्न करें, किन्तु वे हमें कभी नहीं भूलते, न ही वे हमें हमारी सभी आवश्यक वस्तुओं को देना तथा अदृश्य मार्गदर्शन देना बन्द करते हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

त्वदीक्षणवशक्षोभमायाबोधितकर्मभिः ।

जातान् संसरतः खिन्नान् नृहरे पाहि नः पितः ॥

"हे पिता, हे नृसिंह! जो जन्म-मृत्यु के अन्तहीन चक्र में जन्म ले चुके हैं, उनकी रक्षा कीजिये। ये आत्माएँ अपने कर्म-बन्धन से दुखी हैं, जिसे माया ने तब जागृत किया, जब आपने उसे क्रियाशील बनाने के लिए अपनी दृष्टि डाली।"

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगतास्
तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा ।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अपरिमिताः—असंख्य; ध्रुवाः—स्थायी; तनु-भृतः—देहधारी जीव; यदि—यदि; सर्व-गताः—सर्वव्यापी; तर्हि—तब; न—नहीं; शास्यता—प्रभुसत्ता; इति—इस प्रकार; नियमः—नियम; ध्रुव—हे अपरिवर्तित; न—नहीं; इतरथा—अन्यथा; अजनि—उत्पन्न किया गया था; च—तथा; यत्-मयम्—जिसके सार से; तत्—उससे; अविमुच्य—अपने को विलग न करते हुए; नियन्तृ—

नियन्ता; भवेत्—होना चाहिए; समम्—सम रूप से उपस्थित; अनुजानताम्—जानने वालों का; यत्—जो; अमतम्—गलत समझा हुआ; मत—ज्ञान; दुष्टतया—अपूर्णता के कारण।.

यदि ये असंख्य जीव सर्वव्यापी होते और अपरिवर्तनशील शरीरों से युक्त होते, तो हे निर्विकल्प, आप संभवतः उनके परम शासक न हुए होते। लेकिन चूँकि वे आपके स्थानिक अंश हैं और उनके स्वरूप परिवर्तनशील हैं, अतएव आप उनका नियंत्रण करते हैं। निस्सन्देह, जो किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिए अवयव की आपूर्ति करता है, वह अवश्यमेव उसका नियन्ता है, क्योंकि कोई भी उत्पाद अपने अवयव कारण से पृथक् विद्यमान नहीं रहता। यदि कोई यह सोचे कि उसने भगवान् को, जो अपने प्रत्येक अंश में समरूप से रहते हैं जान लिया है, तो यह मात्र उसका भ्रम है, क्योंकि मनुष्य जो भी ज्ञान भौतिक साधनों से अर्जित करता है, वह अपूर्ण होगा।

तात्पर्य : चूँकि बद्धजीव परम पुरुष को प्रत्यक्ष नहीं समझ पाता, अतएव वेद सामान्यतया उसको ब्रह्म और *ॐ तत् सत्* जैसे निर्विशेष रूप में बतलाते हैं। यदि कोई सामान्य विद्वान यह माने कि उसने इन प्रतीकात्मक शब्दों का गुह्य अर्थ समझ लिया है, तो उसे धूर्त समझकर त्याग देना चाहिए। *श्री केन उपनिषद्* (२.१) के शब्दों में—*यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रम् एवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं, यदस्य त्वं यदस्य देवेषु*—"यदि तुम सोचते हो कि तुम ब्रह्म को भलीभाँति जानते हो, तो तुम्हारा ज्ञान बहुत ही कम है। यदि तुम यह सोचते हो कि देवताओं के बीच ब्रह्म के रूप को पहचान सकते हो, तो निस्सन्देह तुम बहुत कम जानते हो।" पुनः

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विज्ञानतां विज्ञातमविजानताम्॥

"जो कोई परम सत्य के विषय में किसी प्रकार का मत रखने से इनकार करता है उसका मत सही होता है, किन्तु जो ब्रह्म के विषय में अपना मत रखता है, वह उन्हें नहीं जानता। जो यह दावा करते हैं कि वे उन्हें जानते हैं उनसे वे अज्ञात होते हैं, वे उन्हीं के द्वारा जाने जाते हैं, जो उन्हें जानने का दावा नहीं करते।" (*केन उपनिषद्* २.३)

आचार्य श्रीधर स्वामी ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है अनेक दार्शनिकों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से जीवन के रहस्यों का अध्ययन किया है और व्यापक दृष्टि से भिन्नता के सिद्धान्त बनाये हैं। उदाहरणार्थ, अद्वैत मायावादी यह सुझाव रखते हैं कि जीव केवल एक है और उसे आच्छादित किए

हुए एक *अविद्या* की शक्ति है, जो अनेक रूप उत्पन्न करती है। किन्तु इस परिकल्पना से यह बेतुका निष्कर्ष निकलता है कि जब कोई जीव मुक्त हो जाता है, तो सभी मुक्त हो जाते हैं। दूसरी ओर यदि एक जीव को आच्छादित करने वाली अनेक अविद्याएँ होंगी तो प्रत्येक अविद्या उस जीव के कुछ ही हिस्से को ढकेगी और तब हमें यह कहना होगा कि किसी विशेष समय पर वह अंशत: मुक्त होता है और उसके शेष अंश बन्धन में पड़े रहते हैं। यह सर्वथा बेहूदा विचार है। इस तरह जीवों की बहुरूपता से बचा नहीं जा सकता।

यही नहीं, अन्य सिद्धान्तवादी भी हैं, यथा न्याय तथा वैशेषिक के समर्थक, जो यह दावा करते हैं कि जीवात्मा का आकार अनिश्चित है। इन विद्वानों का तर्क है कि यदि आत्माएँ सूक्ष्म होतीं, तो वे अपने ही शरीरों में व्याप्त न होतीं और यदि वे मध्यम आकार की होतीं, तो वे खंडों में विभाजित हो सकतीं और तब नित्य न होतीं। यह धारणा कम-से-कम न्याय-वैशेषिका तत्त्व-मीमांसा के अनुसार मानी जाती है, किन्तु यदि असंख्य नित्य जीवात्माएँ असीमत: विशाल हों, तो वे बन्धन की किसी शक्ति से किस तरह आच्छादित हो सकतीं, चाहे वे अविद्या से सम्बद्ध होतीं या स्वयं परमेश्वर से? इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा के लिए न तो कोई अविद्या हो सकती है न ही उसे किसी प्रतिबन्ध से मुक्त होना है। अनन्त आत्माओं को बिना परिवर्तन के नित्य उसी रूप में रहे आना है। इसका अर्थ यह होगा कि सभी आत्माएँ ईश्वर के तुल्य होंगी, क्योंकि ईश्वर को इन सर्वव्यापी अपरिवर्तनशील प्रतिद्वन्द्वियों को नियंत्रित करने के लिए अवसर ही नहीं मिलेगा।

वे वैदिक श्रुति मंत्र जो एक स्वर से व्यष्टि आत्माओं पर ईश्वर की प्रभुता को बतलाते हैं, उनका तर्कसंगत खंडन नहीं किया जा सकता। असली दार्शनिक को श्रुति के कथनों को सभी चर्चित विषयों में विश्वसनीय प्रमाण मानना चाहिए। निस्सन्देह अनेक स्थानों पर वैदिक वाङ्मय में परमेश्वर की शाश्वत अपरिवर्तनशील अभिन्नता को जन्म-मृत्यु के चक्कर में फँसे हुए जीवों की परिवर्तनशील देहों से भिन्न बतलाया गया है।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

अन्तर्यन्ता सर्वलोकस्य गीत: श्रुत्या युक्त्या चैवम् एवावसेय:।

य: सर्वज्ञ: सर्वशक्तिर्नृसिंह: श्रीमन्तं तं चेतसैवावलम्बे॥

“मैं अपने हृदय में उसकी शरण ग्रहण करता हूँ, जिनका सारे जगतों के आन्तरिक नियन्ता के रूप में महिमागान किया जाता है और जिसकी पुष्टि सारे वेद तर्क द्वारा करते हैं। वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान लक्ष्मीपति नृसिंह हैं।”

न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयोर्
उभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

न घटते—घटित नहीं होता; उद्भवः—सृजन; प्रकृति—प्रकृति का; पूरुषयोः—तथा उसके भोक्ता आत्मा का; अजयोः—अजन्मा; उभय—दोनों के; युजा—संयोग से; भवन्ति—उत्पन्न होते हैं; असु-भृतः—जीव; जल—जल पर; बुद्बुद—बुलबुला; वत्—सदृश; त्वयि—तुममें; ते इमे—ये (जीव); ततः—इसलिए; विविध—तरह-तरह के; नाम—नामों; गुणैः—तथा गुणों से; परमे—परम में; सरितः—नदियाँ; इव—सदृश; अर्णवे—समुद्र में; मधुनि—शहद में; लिल्युः—लीन हो जाती हैं; अशेष—पूरा; रसाः—स्वाद।

न तो प्रकृति, न ही उसका भोग करने के लिए प्रयत्नशील आत्मा कभी जन्म लेते हैं, फिर भी जब ये दोनों संयोग करते हैं, तो जीवों का जन्म होता है, जिस तरह जहाँ जहाँ जल से वायु मिलती है, वहाँ वहाँ बुलबुले बनते हैं। जिस तरह नदियाँ समुद्र में मिलती हैं या विभिन्न फूलों का रस शहद में मिल जाता है, उसी तरह ये सारे बद्धजीव अन्ततोगत्वा अपने विविध नामों तथा गुणों समेत आप ब्रह्म में पुनः लीन हो जाते हैं।

तात्पर्य : समुचित आध्यात्मिक मार्गदर्शन के बिना कोई भी व्यक्ति भगवान् से उद्भूत जीवों के वेदों द्वारा प्रस्तुत वर्णन का यह गलत अर्थ लगा सकता है कि इस तरह से उत्पन्न जीव अन्ततोगत्वा अनस्तित्व में चले जायेंगे। किन्तु यदि जीवों का इस तरह केवल क्षणिक अस्तित्व होना था, तो जब उनमें से कोई मरता, तो उसके बचे हुए कर्म बिना उपयोग में लाये जाकर विलीन हो जाते और जब आत्मा फिर से जन्म लेता तो वह बिना हिसाब के कई कर्मों के साथ उत्पन्न होता, जिन्हें कमाने के लिए उसने कुछ न किया होता। यही नहीं, जीव की मुक्ति का अर्थ होता उसकी पहचान तथा सत्ता का समूल विनाश होना।

किन्तु सच तो यह है कि आत्मा का सार ब्रह्म से तादात्म्य है, जिस तरह मिट्टी के पात्र की दीवालों के छोटे छोटे छिद्र सारतः विस्तीर्ण आकाश से एकाकार हैं। मिट्टी के पात्र के बनाने तथा टूटने की ही

तरह किसी व्यष्टि आत्मा का "जन्म" पहले भौतिक शरीर से उसके आच्छादित होने में है और उसकी "मृत्यु" या मोक्ष उसके स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों का एक ही बार में सदा के लिए विनाश है। निश्चय ही ऐसा "जन्म" तथा "मृत्यु" परमेश्वर की कृपा से ही घटित होते हैं।

प्रकृति का उसके नियन्ता से जो भौतिक सृष्टि में असंख्य बद्धजीव उत्पन्न करता है, संयोग होने की उपमा जल तथा वायु के संयोग से दी गई है, जिससे समुद्र की सतह पर फेन के असंख्य बुलबुले उत्पन्न होते हैं। जिस तरह सक्षम कारणरूपी वायु उपादान कारण रूपी जल को बुलबुला बनने के लिए बाध्य करता है, उसी तरह परम पुरुष अपने दृष्टिपात से प्रकृति को भौतिक तत्त्वों तथा इन तत्त्वों से बनने वाले अनेक पदार्थों के रूप में परिवर्तित होने के लिए प्रेरित करता है। इस तरह प्रकृति सृष्टि का *उपादान कारण* अर्थात् सृजन का अवयव रूपी कारण है। किन्तु अन्तत: वह परमेश्वर का अंश भी है, इसलिए परमेश्वर ही एकमात्र उपादान कारण तथा सक्षम कारण भी हैं। *तैत्तिरीय उपनिषद्* (२.२.१) में इसका वर्णन हुआ है *तस्माद् वा एतस्माद् आत्मन आकाश: सम्भूत:* इस परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ तथा *सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय* उसने इच्छा की कि सन्तति में विस्तार करके मैं अनेक हो जाऊँ।

जब जीवात्माएँ परमेश्वर तथा प्रकृति से "जन्म" लेती हैं, तब न तो वे उत्पन्न होती हैं, न ही जब वे भगवान् के नित्य धाम की ह्लादिनी लीलाओं में उनसे मिलने के लिए उनमें वापस "लीन" होती हैं, तो वे विनष्ट होती हैं। इसी तरह जिस प्रकार अति सूक्ष्म जीव बिना किसी वास्तविक परिवर्तन के जन्मते तथा मरते प्रतीत होते हैं उसी तरह परमात्मा बिना किसी विकार के अपने उद्भवों को बाहर निकाल सकता है और भीतर खींच सकता है। इस प्रकार *बृहदरण्यक उपनिषद्* पुष्टि करता है (४.५.१४) कि *अविनाशी वारेऽयम् आत्मा*—यह आत्मा निस्सन्देह अविनाशी है। यह कथन परमात्मा तथा उसके अधीन जीवात्मा दोनों पर लागू हो सकता है।

जैसाकि श्रील श्रीधर स्वामी ने बतलाया है कि जीव की भौतिक अवस्था का विलय दो प्रकार से होता है आंशिक तथा पूर्ण। आंशिक विलय तब होता है, जब आत्मा को स्वप्नरहित निद्रा आती है, जब वह अपने शरीर को त्यागता है और जब सारी आत्माएँ फिर से ब्रह्माण्ड के प्रलय के समय महाविष्णु के शरीर में प्रवेश करती हैं। ये विभिन्न प्रकार के विलय विभिन्न प्रकार के फूलों से

मधुमक्खियों द्वारा लाये गये मधु को मिलाने के समान हैं। मधु के विभिन्न स्वाद-गंध प्रत्येक जीव के सुप्त कर्मफलों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो अस्तित्व में रहने पर भी एक दूसरे से पहचाने नहीं जा सकते। तुलनात्मक दृष्टि से, जीवात्मा की भौतिक अवस्था का अन्तिम विलय संसार से उसकी मुक्ति है, जो नदियों का समुद्र में मिलने जैसी है। जिस तरह समुद्र में प्रवेश करने के बाद विभिन्न नदियों का जल परस्पर मिल जाता है और एक-दूसरे से पहचाना नहीं जा सकता, उसी तरह मुक्ति के साथ जीव की सारी झूठी भौतिक उपाधियाँ छूट जाती हैं और सारे मुक्त जीव पुन: भगवान् के सेवकों की भाँति समभाव से स्थित हो जाते हैं।

उपनिषदों में इन विलयों का वर्णन इस प्रकार हुआ है यथा *सौम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारम् एकतां संगयन्ति। ते यथा तत्र न विवेकं लभन्ते अमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पदय न विदुः सति सम्पाद्यामहे* ''हे बालक! यह (आंशिक विलय) वैसा ही है, जैसाकि मधुमक्खियों द्वारा विविध प्रकार के वृक्षों के फूलों से निकाले रस को मिलाकर एक मिश्रण रूप में बनाया गया मधु होता है। जिस प्रकार मिश्रित रस यह अन्तर नहीं कर पाते कि मैं अमुक फूल का रस हूँ या कि किसी अन्य फूल का रस हूँ, उसी तरह हे बालक! जब ये सारे जीव परस्पर मिल जाते हैं, तो वे यह नहीं सोच पाते कि ''अब हम एक दूसरे से मिल गये हैं।'' (छन्दोग्य उपनिषद् ६.९.१-२)

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।

तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषं उपैति दिव्यम्॥

''जिस तरह नदियाँ अपने गन्तव्य पर पहुँच कर अपने नामों तथा रूपों को त्याग कर समुद्र में मिलकर विलीन हो जाती हैं, उसी तरह विद्वान व्यक्ति भौतिक नामों तथा स्वरूपों से मुक्त होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है, जो अद्भुत भगवान् हैं।'' (*मुण्डक उपनिषद* ३.२.८)

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

यस्मिन्नुद्यद्विलयमपि यद् भाति विश्वं लयादौ

जीवोपेतं गुरुकरुणया केवलात्मावबोधे।

अत्यन्तान्तं व्रजति सहसा सिन्धुवत् सिन्धुमध्ये

मध्ये चित्तं त्रिभुवनगुरुं भावये तं नृसिंहम्॥

"परमेश्वर आत्म-प्रकाशित होने से सर्वज्ञ हैं। उनकी परम कृपा से, यह ब्रह्माण्ड जो कि बारम्बार उत्पन्न होता और लय होता है, विश्व-प्रलय के समय जीवों के साथ साथ उनमें विलीन होने के बाद उन्हीं में उपस्थित रहता है। ब्रह्माण्ड का यह पूर्ण विलय सहसा होता है, जिस तरह कि समुद्र में जाकर नदी मिल जाती है। मैं अपने हृदय के भीतर तीनों लोकों के स्वामी नृसिंह भगवान् का ध्यान करता हूँ।"

नृषु तव मयया भ्रमममीष्ववगत्य भृशं
त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम् ।
कथमनुवर्ततां भवभयं तव यद्भ्रुकुटिः
सृजति मुहुस्त्रिनेमिरभवच्छरणेषु भयम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

नृषु—मनुष्यों के बीच; तव—तुम्हारी; मायया—माया से; भ्रमम्—मोह; अमीषु—इनमें; अवगत्य—समझकर; भृशम्—अत्यधिक; त्वयि—तुममें; सु-धियः—विद्वान; अभवे—मोक्ष के स्त्रोत में; दधति—करता है; भावम्—प्रेमाभक्ति; अनुप्रभवम्—शक्तिमान, उत्कट; कथम्—कैसे; अनुवर्तताम्—अनुयायियों के लिए; भव—भौतिक जीवन का; भयम्—डर; तव—तुम्हारा; यत्—चूँकि; भ्रु—भौंहों का; कुटिः—टेढ़ा होना; सृजति—उत्पन्न करती है; मुहुः—बारम्बार; त्रि-नेमिः—तीन आरों वाली (भूत, वर्तमान तथा भविष्यये काल की तीन अवस्थाएँ); अ—नहीं; भवत्—आप से; शरणेषु—शरणागतों के लिए; भयम्—डर।

विद्वान आत्माएँ, जो यह समझते हैं कि आपकी माया, किस तरह सारे मनुष्यों को मोहती है, वे आपकी उत्कट प्रेमाभक्ति करते हैं, क्योंकि आप जन्म तथा मृत्यु से मुक्ति के स्त्रोत हैं। भला आपके श्रद्धावान सेवकों को भौतिक जीवन का भय कैसे सता सकता है? दूसरी ओर, आपकी कुटिल भौंहें, जो कालचक्र की *तिहरी-नेमि* हैं बारम्बार उन्हें भयभीत बनाती हैं, जो आपकी शरण ग्रहण करने से इनकार करते हैं।

तात्पर्य : वेद अपने सर्वाधिक रहस्य भगवद्भक्ति—को उन्हें ही प्रकट करते हैं, जो उस भौतिक मोह से ऊब चुके हैं जो भगवान् से स्वतंत्र सत्ता के झूठे भाव पर आधारित है। *श्वेत यजुर्वेद* की *वाजसनेयी संहिता* (३२.११) में निम्नलिखित मंत्र है—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।

उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानम् अभिसंविवेश॥

"सारी जीव-योनियों, सारे लोकों तथा सारी दिशाओं में अन्तरिक्ष की सारी सीमाओं को पार

करके मनुष्य मूल अमर आत्मा के पास पहुँचता है। तब उसे उनके राज्य में स्थायी रूप से प्रवेश करने तथा उनकी साक्षात् पूजा करने का अवसर प्राप्त होता है।''

भले ही विविध परस्पर विरोधी भौतिक दर्शनों के समर्थक अपने को अत्यन्त बुद्धिमान मानें, किन्तु वे सबके सब भगवान् की माया द्वारा मोहित हैं। वैष्णवजन सामान्य मोह की इस रीति को जानते हैं, इसलिए वे दास्य, सख्य इत्यादि भक्ति-रसों में भगवान् के प्रति अपने को समर्पित करते हैं। वे दार्शनिक वाद-विवाद की गर्मी और झगड़े में न पड़कर प्रतिक्षण आनन्द का अनुभव करते हैं, क्योंकि उनके प्रेम का लक्ष्य वह है, जो भवबन्धन को अन्त करने वाला है। भगवान् विष्णु के भक्त न केवल इस जीवन में अपितु अगले जीवनों में भी निरन्तर आनन्द का भोग करते हैं। वे चाहे जो भी जन्म लें, वे भगवान् के साथ प्रेमाभक्ति के आदान-प्रदान का आनंद लेते रहते हैं। इस प्रकार निष्ठावान वैष्णव प्रार्थना करता है—

नाथ योनि सहस्रेषु येषु येषु भ्रमाम्यहम्।

तत्र तत्राच्युता भक्तिरच्युतास्तु दृढा त्वयि॥

''हे नाथ! मैं जीवन की हजारों योनियों में जहाँ-जहाँ घूमूँ प्रत्येक अवस्था में हे अच्युत! मैं आपकी दृढ़ भक्ति पाऊँ।'' (*विष्णु पुराण*)

कुछ दार्शनिक यह प्रश्न उठा सकते हैं कि वैष्णवजन *त्वम्* (तुम, जीव) तथा *तत्* (वह, ब्रह्म) के पूर्ण वैश्लेषिक ज्ञान के बिना एवं भौतिक जीवन के प्रति पर्याप्त घृणा उत्पन्न किये बिना इस भवबन्धन को कैसे जीत सकते हैं? यहाँ पर साक्षात् वेद उत्तर देते हैं कि भगवद्भक्तों पर भौतिक मोह बने रहने की गुंजाईश नहीं रहती, क्योंकि भक्ति की प्रारम्भिक अवस्थाओं में ही भगवत्कृपा से सारा भय तथा आसक्ति दूर हो जाते हैं।

इस जगत में समय (काल) ही समस्त भय का कारण है। वह भूत, वर्तमान तथा भविष्य इन अपने तीन विभागों से रोग, मृत्यु तथा नरक-यातना का भय उत्पन्न करता है, किन्तु केवल उनके लिए जिन्होंने भगवान् के चरणों की शरण नहीं ग्रहण की है। जैसाकि स्वयं भगवान् ने *रामायण* (लंका खण्ड १८.३३) में कहा है—

सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च याचते।

अभयं सर्वदा तस्मै ददाम्येतद् व्रतं मम॥

''यदि कोई एक बार भी यह याचना करते हुए कि ''मैं आपका हूँ'' मेरी शरण में आता है, उसे मैं शाश्वत अभय प्रदान करता हूँ। यह मेरा दृढ़ व्रत है।'' साथ ही, *भगवद्गीता* (७.१४) में भगवान् कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायां एतां तरन्ति ते॥

''तीन गुणों से युक्त मेरी इस दैवी शक्ति से पार पाना कठिन है। किन्तु जिन्होंने मेरी शरण ग्रहण कर ली है, वे आसानी से इसे पार कर सकते हैं।''

वैष्णवजन शुष्क दार्शनिक विषयों में दीर्घ समय के लिए व्यर्थ बहस में सिर खपाकर अपना समय नहीं गँवाना चाहते। वे किसी दार्शनिक प्रतिद्वन्द्वी से झगड़ने की बजाय भगवान् की पूजा करना चाहेंगे। वैष्णवों की समझ शास्त्र के आवश्यक सन्देश से मेल खाती है। इन भक्तों की परब्रह्म के प्रति धारणा, जो कि कृष्ण, राम आदि दैवी रूपों की प्रेममयी लीलाओं तथा अगाध समुद्र के रूप में है और स्वयं में भगवान् के नित्य दास की कल्पना *तत्* तथा *त्वम्* जैसे वेदान्त दर्शन के पूर्ण निष्कर्ष के तुल्य है।

भगवान् तथा उनके उद्भव यथा जीवात्माएँ एक ही समय भिन्न तथा अभिन्न हैं, जिस तरह कि सूर्य तथा उसकी विस्तारशील किरणें। जीवों की इतनी संख्या है कि उनकी गिनती नहीं की जा सकती और इनमें से हर एक सदैव चेतना से युक्त सजीव है, जैसाकि श्रुतियाँ पुष्टि करती हैं—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्* (*कठ उपनिषद्* ५.१३ तथा *श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.१३)। जब भौतिक सृष्टि के प्रारम्भ में महाविष्णु के शरीर से ये जीव बाहर निकलते हैं, तो वे भगवान् की तटस्था शक्ति के सूक्ष्म कण होने के कारण एकसमान होते हैं। किन्तु विभिन्न अवस्थाओं के कारण वे चार समूहों में बँट जाते हैं कुछ तो अज्ञान से ढके रहते हैं, जो उनकी दृष्टि को बादल के समान ढाँप लेती है। कुछ ज्ञान तथा भक्ति के मिश्रण से अज्ञान से मुक्त हो जाते हैं। तीसरा समूह नितान्त शुद्ध भक्ति से पूर्ण होता है, जिनमें कल्पित ज्ञान तथा सकाम कर्म की कुछ कुछ मिश्रित इच्छा रहती है। ऐसे जीवों को पूर्ण ज्ञान तथा आनन्द से युक्त शुद्ध शरीर प्राप्त होता है, जिससे वे भगवद्भक्ति में लग सकते हैं। अन्तिम समूह उनका है, जिनका अज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वे भगवान् के नित्य संगी हैं।

नारद पञ्चरात्र में जीवात्मा की तटस्थ स्थिति का वर्णन हुआ है—

यत् तटस्थं तु चिद्रूपं स्वसंवेद्याद् विनिर्गतम्।

रञ्जितं गुणरागेण स जीव इति कथ्यते॥

''तटस्थ शक्ति को भगवान् की *संवित्* (ज्ञान) शक्ति से उद्भूत समझना चाहिए। यह उद्भव, *जीव* कहलाता है, जो प्रकृति के गुणों द्वारा बद्ध हो जाता है।'' चूँकि जीव भगवान् की बहिरंगा शक्ति, माया और उनकी अन्तरंगा दिव्य शक्ति चित् के मध्य स्थित है, इसलिए जीव *तटस्थ* कहलाता है। किन्तु जब भगवद्भक्ति का अनुशीलन करके वह मुक्ति पा लेता है, तो वह पूर्णतया भगवान् की अन्तरंगा शक्ति की शरण में आ जाता है। तब वह प्रकृति के गुणों से कलुषित नहीं होता। इसकी पुष्टि भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (१४.२६) में की है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो प्रत्येक दशा में एकान्तिक भाव से पूर्ण भक्ति में अपने को लगाता है, वह तुरन्त ही प्रकृति के गुणों को लाँघकर ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।''

आत्मा की पूजा का लक्ष्य तीन प्रकार से अनुभव किया जाता है ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्। निर्विशेष ब्रह्म सूर्य के चमकीले तेज जैसा है, परमात्मा सूर्य-मंडल जैसा है और भगवान् सूर्य के भीतर का अधिष्ठाता देव है, जिसके साथ विस्तृत साज-सामान रहता है। अथवा एक अन्य दृष्टान्त दिया जा सकता है, उन यात्रियों का जो किसी शहर की ओर आते हुए, उसके चिह्नों को शुरु में दूर से नहीं पहचान पाते—उन्हें अपने सामने अस्पष्ट-सा चमकता हुआ कुछ दिखता रहता है। किन्तु जब वे पास आते हैं, तो कुछ ऊँची इमारतें दिखने लगती हैं और जब वे बिल्कुल निकट पहुँच जाते हैं, तो शहर को भलीभाँति देख सकते हैं—मकानों, मार्गों, सार्वजनिक इमारतों, उद्यानों तथा नागरिकों की चहल-पहल से भरा शहर। इसी तरह जो लोग निर्विशेष ध्यान की ओर प्रवृत्ति रखते हैं, उन्हें भगवान् के तेज का कुछ कुछ साक्षात्कार (ब्रह्म) हो सकता है, जो और अधिक निकट जाते हैं, वे उन्हें हृदय में परमात्मा रूप में देख सकते हैं और जो उनके बिल्कुल पास आते हैं, वे उन्हें पूरी तरह साक्षात् रूप में (भगवान्) जान सकते हैं।

सार रूप में श्रील श्रीधर स्वामी स्तुति करते हैं—

संसारचक्रक्रकचैर्विदीर्णम् उदीर्णनानाभवतापतप्तम्।

कथञ्चिदापन्नमिह प्रपन्नं त्वमुद्धर श्रीनृहरे नृलोकम्॥

"हे नरहरि! कृपा करके उन जीवों का उद्धार कीजिये, जिन्होंने नाना प्रकार के कष्ट सहे हैं और संसार के चक्र की तेज धार से विदीर्ण कर दिये गये हैं, किन्तु जिन्होंने किसी तरह से अब आपको ढूँढ़ लिया है और अपने को आपकी शरण में समर्पित कर रहे हैं।"

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं
य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः ।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं
वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

विजित—जीता हुआ; हृषीक—इन्द्रियों से; वायुभिः—तथा प्राण से; अदान्त—अवश; मनः—मन रूपी; तुर-गम्—घोड़े को; ये—जो; इह—इस जगत में; यतन्ति—प्रयास करते हैं; यन्तुम्—नियमित बनाने के लिए; अति—अत्यन्त; लोलम्—चलायमान; उपाय—उपायों से; खिदः—सताया हुआ; व्यसन—उत्पात; शत—सैकड़ों; अन्विताः—से युक्त; समवहाय—त्याग कर; गुरोः—गुरु के; चरणम्—चरणों को; वणिजः—व्यापारीगण; इव—सदृश; अज—हे अजन्मा; सन्ति—हैं; अकृत—ग्रहण न करके; कर्ण-धराः—नाविक; जल-धौ—समुद्र में।

मन ऐसे उच्छृंखल घोड़े की तरह है, जिसको अपनी इन्द्रियों एवं श्वास को संयमित कर चुके व्यक्ति भी वश में नहीं कर सकते। इस संसार में वे लोग, जो अवश मन को वश में करना चाहते हैं, किन्तु अपने गुरु के चरणों का परित्याग कर देते हैं, उन्हें विविध दुखदायी विधियों के अनुशीलन में सैकड़ों बाधाओं का सामना करना पड़ता है। हे अजन्मा भगवान्, वे समुद्र में नाव पर बैठे उन व्यापारियों के समान हैं, जो किसी नाविक को भाड़े पर नहीं लेते।

तात्पर्य : ईश्वर का प्रेम, जो कि मुक्ति का पक्व फल है, प्राप्त करने के योग्य बनने के लिए सर्वप्रथम विद्रोही भौतिक मन को वश में लाना होता है। यद्यपि ऐसा कर पाना कठिन है, किन्तु जब मनुष्य इन्द्रिय-तृप्ति की अपनी लत को हटाकर आध्यात्मिक जीवन के उच्चतर आनंद का आस्वाद करने लगता है, तो वह ऐसा कर सकता है। किन्तु भगवान् के प्रतिनिधि गुरु की ही कृपा से यह उच्चतर आस्वाद प्राप्त किया जा सकता है।

गुरु दिव्य जगत के आश्चर्यों को देख सकने के लिए शिष्य की आँखें खोल देता है, जैसाकि गायत्री

स्तुति में दैवी ज्ञान *ऐं* के बीज मंत्र में है।

मुण्डक उपनिषद् (१.२.१२) का कथन है—

तद्विज्ञानर्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्

समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

''इन बातों की सही जानकारी प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपने हाथ में समिधा लेकर गुरु के पास जाना चाहिए, जो वेदों में पारंगत होता है और परम सत्य में दृढ़-भक्ति रखता है।'' तथा *कठ उपनिषद्* (२.९) की घोषणा है—

नैषा तर्केन मतिरापनेया

प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।

''हे बालक! यह अनुभूति तर्क द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। इसे समझ सकने में सक्षम शिष्य से अत्यधिक योग्य गुरु को ही बतलाना चाहिए।''

प्राय: अवैष्णव जन गुरु के प्रति जो शिष्य परंपरा की प्रमाणित पंक्ति में चला आ रहा है, समर्पण भाव की महत्ता की अवहेलना करते हैं। इसके बजाय, अपनी योग्यता पर निर्भर रहकर अभिमानी योगी तथा ज्ञानीजन विश्व पर रोब जमाने के लिए ऊपर से दिखने वाली अपनी अपनी सफलता प्रदर्शित करते हैं, किन्तु उनका यह यश क्षणिक होता है—

युञ्जानानां अभक्तानां प्राणायामादिभिर्मन:।

अक्षीणवासनं राजन् दृश्यते पुनरुत्थितम्॥

''जो अभक्त प्राणायाम् जैसी विधियों में अपने मनों को लगाते हैं, वे भौतिक इच्छाओं से पूरी तरह रहित नहीं हो पाते। अत: हे राजन्! उनके मन में भौतिक इच्छाएँ पुन: उदय होती देखी जाती हैं।'' (*भागवत* १०.५१.६०)

दूसरी ओर, भगवान् विष्णु तथा वैष्णवों का विनीत दृढ़-संकल्प भक्त अजेय मन पर आसानी से विजय पा लेता है। उसे मन को स्थिर बनाने के लिए न तो अष्टांग योग करने की आवश्यकता पड़ती है, न ही अन्य साधन अपनाने पड़ते हैं। *सर्वं चैतद् गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्*—एकमात्र गुरु-भक्ति के द्वारा मनुष्य इन सारे लक्ष्यों को प्राप्त कर सकता है। अन्यथा एक अभक्त अपनी इन्द्रियों तथा

प्राण-वायु को जीत कर भी अपने मन को वश में नहीं कर सकता, जो लगाम से छूटे घोड़े की तरह स्वच्छंद दौड़ता रहेगा। उसे अनेक आध्यात्मिक विधियों का पालन करने में अपार चिन्ता भोगनी पड़ेगी और अंत में वह इस विशाल भवसागर में पहले की ही तरह भूला-भटका रहता रहेगा। यहाँ पर दिया गया दृष्टान्त उपयुक्त है : वे व्यापारी जो महान् लाभ की इच्छा से जल्दी जल्दी में समुद्र-यात्रा करते हैं, किन्तु अपनी नाव के लिए योग्य नाविक नहीं लेते, उन्हें महान् कष्ट उठाना पड़ता है।

भागवत में अनेक स्थलों पर प्रामाणिक गुरु की महत्ता घोषित की गई है। यथा, ग्यारहवें स्कंध के निम्नलिखित श्लोक में (२०.१७)—

नृदेहमाद्यम् सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।

मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

''जीवन में सारे लाभ दिलाने वाला मनुष्य-शरीर प्रकृति के नियमों द्वारा स्वतः प्राप्त होता है, यद्यपि यह विरल उपलब्धि है। इस मनुष्य-शरीर की उपमा सुनिर्मित नाव से दी जा सकती है, जिसका कर्णधार गुरु होता है और भगवान् के आदेश मार्ग में अनुकूल वायु के तुल्य होते हैं। इन सभी लाभों पर विचार करके जो मनुष्य अपने मनुष्य-शरीर का उपयोग भवसागर को पार करने के लिए नहीं करता, उसे अपनी ही आत्मा का हत्यारा माना जाना चाहिए।'' अतएव मनुष्य-जीवन का संजीदगी से उपयोग करने वाले का पहला कर्तव्य यह होता है कि वह ऐसे गुरु की खोज करे जो कृष्णभावनामृत में उसका मार्गदर्शन कर सके।

श्रील श्रीधर स्वामी स्तुति करते हैं—

यदा परानन्दगुरो भवत्पदे पदं मनो मे भगवल्लभेत।

तदा निरस्ताखिलसाधनश्रमः श्रयेय सौख्यं भवतः कृपातः॥

''हे दिव्य आनन्दमय गुरु! जब मेरा मन आपके चरणकमलों पर स्थान पा लेगा, तो मेरी आध्यात्मिक साधना का श्रम दूर हो जायेगा और आपकी कृपा से मुझे परम सुख का अनुभव होगा।''

स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथै-
स्त्वयि सति किं नृणाम्श्रयत आत्मनि सर्वरसे ।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां

सुखयति को न्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे ॥ ३४॥

शब्दार्थ

स्वजन—सेवकों; सुत—बच्चों; आत्म—शरीर; दार—पत्नी; धन—धन; धाम—घर; धरा—पृथ्वी; असु—प्राण; रथैः—तथा वाहनों से; त्वयि—जब तुम; सति—बन गये हो; किम्—क्या (लाभ); नृणाम्—मनुष्यों के लिए; श्रयतः—शरण में आये हुए; आत्मनि—उनकी आत्मा; सर्व-रसे—समस्त आनन्द के स्वरूप; इति—इस प्रकार; सत्—सत्य; अजानताम्—न जानने वालों के लिए; मिथुनतः—संभोग से; रतये—रति के लिए; चरताम्—करते हुए; सुखयति—सुख देता है; कः—क्या; नु—तनिक भी; इह—इस (जगत) में; स्व—अपने आप; विहते—विनाशशील; स्व—अपने आप; निरस्त—रहित; भगे—किसी सार से।.

जो व्यक्ति आपकी शरण ग्रहण करते हैं, उन्हें आप परमात्मा स्वरूप दिखते हैं, जो समस्त दिव्य-आनन्द स्वरूप है। ऐसे भक्तों के लिए अपने सेवकों, बच्चों या शरीरों, अपनी पत्नियों, धन या घरों, अपनी भूमि, स्वास्थ्य या वाहनों का क्या उपयोग रह जाता है? और जो आपके विषय में सच्चाई को समझने में असफल होते हैं तथा यौन-आनन्द के पीछे भागते रहते हैं, उनके लिए इस सम्पूर्ण जगत में, जो सदैव विनाशशील है और महत्त्व से विहीन है, ऐसा क्या है, जो उन्हें असली सुख प्रदान कर सके?।

तात्पर्य : वह विष्णु-भक्ति शुद्ध मानी जाती है, जिसमें मनुष्य की एकमात्र इच्छा भगवान् को प्रसन्न करना हो। उस पूर्ण चेतना में स्थित वैष्णव को सांसारिक उपलब्धि में कोई रुचि नहीं रहती, इसलिए वह यज्ञ करने तथा योग का कठिन अभ्यास करने के किसी कर्तव्य से मुक्त कर दिया जाता है। जैसाकि *मुण्डक उपनिषद्* (१.२.१२) में कहा गया है—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो

निर्वेदम् आयान् नास्त्यकृतः कृतेन॥

“जब ब्राह्मण यह जान लेता है कि स्वर्ग जाना कर्म का दूसरा संचय मात्र ही है, तो वह विरक्त हो जाता है और अपने कर्मों से दूषित नहीं होता।” बृहदारण्यक उपनिषद् (४.४.९) तथा *कठ उपनिषद्* (६.१४) से इसकी पुष्टि होती है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रीताः।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

“जब कोई व्यक्ति अपने हृदय की सारी पापपूर्ण इच्छाएँ त्याग देता है, तो मृत्यु के बदले वह शाश्वत आध्यात्मिक जीवन लेता है और ब्रह्म में असली सुख पाता है। *गोपालतापनी उपनिषद्* (पूर्व १५) में यह निष्कर्ष दिया गया है कि *भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येन् आमुष्मिन् मनःकल्पनम्*

एतदेव नैष्कर्म्यम्—''भक्ति तो परमेश्वर की पूजा करने की विधि है। इसमें सारी भौतिक उपाधियों से चाहे वे इस जीवन की हों या अगले की, मुँह मोड़ कर उन्हीं पर मन को स्थिर करना होता है। यही असली वैराग्य है।''

श्रुतियों ने यहाँ पर जिन वस्तुओं के नाम गिनाये हैं, वे सभी सांसारिक सफलता के मापदण्ड हैं—*स्वजनाः* (सेवक), *आत्मा* (सुन्दर शरीर), *सुताः* (गर्व करने योग्य पुत्र), *दाराः* (सुन्दर आकर्षक पत्नी), *धनम्* (धन), *धाम* (प्रतिष्ठापूर्णघर), *धरा* (भूमि), *असवः* (स्वास्थ्य तथा शक्ति) तथा *रथाः* (मोटर-कार तथा अन्य वाहन जो प्रतिष्ठा को प्रदर्शित करते हैं)। किन्तु जिसने भक्ति के आनन्द का अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया है, वह इन सारी वस्तुओं का आकर्षण त्याग देता है, क्योंकि उसे समस्त आनन्द के आगार भगवान् में, जो अपने आनन्द को अपने सेवकों में बाँटते हैं असली तुष्टि मिलती है।

हममें से हर व्यक्ति अपना जीवन-मार्ग चुनने के लिए स्वतंत्र है—हम चाहें तो अपना शरीर, मन, वचन, प्रतिभा तथा धन भगवान् के यश को अर्पित कर दें या फिर हम उनकी उपेक्षा करके अपने निजी सुख के लिए संघर्ष करें। यह दूसरा मार्ग यौन तथा अभिलाषा की दासता की ओर ले जाने वाला है, जिसमें आत्मा को कभी असली संतोष नहीं मिलता, अपितु वह निरन्तर कष्ट उठाता रहता है। वैष्णवजन भौतिकतावादियों को इस तरह भोगते देखकर दुखी होते हैं, अतएव वे उन्हें प्रबोधित करने का प्रयास करते रहते हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

भजतो हि भवान् साक्षात् परमानन्दचिद्धनः।
आत्मैव किमतः कृत्यं तुच्छदारसुतादिभिः॥

''जो आपकी पूजा करते हैं उनके लिए आप उनकी आत्मा और सर्वोच्च आनन्द के आध्यात्मिक कोष बन जाते हैं। उन्हें संसारी पत्नियों, बच्चों इत्यादि से क्या काम?''

भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमदा-
स्त उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः ।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे

न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

भुवि—पृथ्वी पर; पुरु—अत्यधिक; पुण्य—पवित्र; तीर्थ—तीर्थस्थान; सदनानि—तथा भगवान् के निजी धाम; ऋषयः—ऋषिगण; विमदः—मिथ्या गर्व से रहित; ते—वे; उत—निस्सन्देह; भवत्—आपके; पद—पाँव; अम्बुज—कमलवत्; हृदः—जिनके हृदयों में; अघ—पाप; भित्—विनाश करने वाले; अङ्घ्रि—जिनके चरणों (को धोने से); जलाः—जल; दधति—बदल जाता है; सकृत्—एक बार भी; मनः—जिनके मन; त्वयि—तुममें; ये—जो; आत्मनि—परमात्मा के प्रति; नित्य—सदैव; सुखे—सुख में; न पुनः—फिर कभी नहीं; उपासते—पूजा करते हैं; पुरुष—मनुष्य के; सार—आवश्यक गुण; हर—हर लेते हैं; आवसथान्—उनके संसारी घर।

ऋषिगण मिथ्या गर्व से रहित होकर पवित्र तीर्थस्थानों तथा जहाँ जहाँ भगवान् ने अपनी लीलाएँ प्रदर्शित की हैं, उनका भ्रमण करते हुए इस पृथ्वी पर निवास करते हैं। चूँकि ऐसे भक्त आपके चरणकमलों को अपने हृदयों में रखते हैं, अतः उनके पाँवों को धोने वाला जल सारे पापों को नष्ट कर देता है। जो कोई अपने मन को एक बार भी समस्त जगत के नित्य आनन्दमय आत्मा आपकी ओर मोड़ता है, वह घर पर ऐसे पारिवारिक जीवन के अधीन नहीं रहता, जिससे मनुष्य के अच्छे गुण छीन लिये जाते हैं।

तात्पर्य : महत्त्वाकांक्षी ऋषि का गुण यह है कि उसने आदर्श विद्वानों से परम सत्य के विषय में सीखा होता है और वैराग्य का सौम्य भाव विकसित कर लिया होता है। अनावश्यक एवं आवश्यक में भेद करने की क्षमता विकसित करने के लिए ही ऐसा व्यक्ति प्रायः एक पवित्र स्थान से दूसरे पवित्र स्थान में घूमता रहता है और इन स्थानों में बसने वाले या आने वाले महात्माओं की संगति का लाभ उठाता है। यदि अपनी यात्राओं के दौरान ऐसा ऋषि अपने हृदय के भीतर भगवान् के चरणकमलों की अनुभूति करना आरम्भ कर सकता है, तो वह मिथ्या अहंकार के मोह से तथा काम, ईर्ष्या एवं लोभ के दुखद बन्धन से छूट जायेगा। यद्यपि वह तब भी अपने पाप धो डालने के लिए तीर्थस्थानों में जा सकता है, किन्तु अब इस शुद्ध संत में अपने चरणोदक से और अपने अनुभवजनित उपदेशों से अन्यों को पवित्र बनाने की शक्ति आ जाती है। ऐसे एक ऋषि का वर्णन *मुण्डक उपनिषद्* (२.२.९) में मिलता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

"जब वह परमेश्वर को सर्वत्र, सभी उच्च तथा निम्न जीवों के भीतर, देखता है, तो हृदय-ग्रन्थि का भेदन हो जाता है, सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और सकाम कर्मों की शृंखला टूट जाती है।" इस

अवस्था को प्राप्त ऋषियों को अपना नमस्कार करते हुए *मुण्डक उपनिषद्* (३.२.११) में कहा गया है—*नमः परमर्षिभ्यः, नमः परमर्षिभ्यः*—परम ऋषियों को नमस्कार है, परम ऋषियों को नमस्कार है।

सन्त वैष्णवजन स्त्रियों, बच्चों, मित्रों तथा अनुयायियों की प्रिय संगति छोड़ कर उन पवित्र धामों की यात्रा करते रहते हैं, जहाँ परमेश्वर की पूजा सफलतापूर्वक सम्पन्न की जा सके—ऐसे स्थान जैसे वृन्दावन, मायापुर तथा जगन्नाथ पुरी या फिर जहाँ कहीं भगवान् विष्णु के निष्ठावान भक्त एकत्र होते हैं। यहाँ तक कि ऐसे वैष्णव भी जिन्होंने संन्यास ग्रहण नहीं किया और अब भी अपने घर में या अपने गुरु के आश्रम में रह रहे हैं, किन्तु जिन्होंने भक्ति के दिव्य आनन्द की एक बूँद एक बार भी चखी है, वे भौतिकतावादी गृहस्थ-जीवन के आनन्दों का चिन्तन करने में तनिक भी रुचि नहीं रखेंगे, क्योंकि गृहस्थ-जीवन मनुष्य से उसका विवेक, संकल्प, गम्भीरता, सहिष्णुता तथा मनःशान्ति को हर लेता है।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

मुञ्चन्नंग तदंगसंगमनीशं त्वामेव सञ्चितयन्

सन्तः सन्ति यतो यतो गतमदास्तान् आश्रमान् आवसन्।

नित्यं तन्मुखपंकजाद् विगलितत्वत्पुण्यगाथामृत-

स्रोतःसम्प्लवसम्प्तुो नरहरे न स्याम् अहं देहभृत्॥

"हे प्रभु! जब मैं अपनी सारी इन्द्रिय-तृप्ति त्याग दूँगा और निरन्तर आपका ध्यान धरने में लग जाऊँगा और जब मैं मिथ्या गर्व से रहित सन्त सदृश भक्तों की कुटियाओं में निवास करने लगूँगा, तब मैं आपकी पवित्र कथाओं का उच्चारण कर रहे भक्तों के कमल-मुखों से निकली अमृत की बाढ़ में पूरी तरह डूब जाऊँगा। और हे नरहरि! तब मुझे पुनः भौतिक शरीर धारण नहीं करना होगा।"

सत इदं उत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं
व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक् ।
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया
भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सतः—स्थायी से; इदम्—इस (ब्रह्माण्ड); उत्थितम्—निकले हुए; सत्—स्थायी; इति—इस प्रकार; चेत्—यदि (कोई प्रस्ताव करे); ननु—निश्चय ही; तर्क—तार्किक विरोध से; हतम्—निषिद्ध; व्यभिचरति—सामान्य नहीं रहता; क्व च—कुछ बातों में; क्व च—अन्य बातों में; मृषा—भ्रम; न—नहीं; तथा—उस तरह; उभय—दोनों (सत्य तथा भ्रम); युक्—संयोग; व्यवहृतये—सामान्य मामलों में; विकल्पः—काल्पनिक स्थिति; इषितः—वांछित; अन्ध—अन्धे व्यक्तियों की; परम्परया—परम्परा से;

भ्रमयति—मोहित करती है; भारती—ज्ञान के शब्द; ते—तुम्हारे; उरु—अनेक; वृत्तिभि:—अपने पेशों से; उक्थ—कहे गये; जडान्—जड़।

यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि यह जगत स्थायी रूप से सत्य है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति स्थायी सत्य से हुई है, किन्तु इसका तार्किक खण्डन हो सकता है। निस्सन्देह, कभी कभी कार्य-कारण का ऊपरी अभेद सत्य नहीं सिद्ध हो पाता और कभी तो सत्य वस्तु का फल भ्रामक होता है। यही नहीं, यह जगत स्थायी रूप से सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि यह केवल परमसत्य के ही स्वभावों में भाग नहीं लेता, अपितु उस सत्य को छिपाने वाले भ्रम में भी लेता है। वस्तुतः इस दृश्य जगत के दृश्य-रूप उन अज्ञानी पुरुषों की परम्परा द्वारा अपनाई गई काल्पनिक व्यवस्था है, जो अपने भौतिक मामलों को सुगम बनाना चाहते थे। आपके वेदों के बुद्धिमत्तापूर्ण शब्द अपने विविध अर्थों तथा अन्तर्निहित व्यवहारों से उन सारे पुरुषों को मोहित कर लेते हैं, जिनके मन यज्ञों के मंत्रोच्चारों को सुनते-सुनते जड़ हो चुके हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार उपनिषद् यह शिक्षा देते हैं कि यह जगत सत्य किन्तु नश्वर है। भगवान् विष्णु के भक्त इसी ज्ञान को मानते हैं। किन्तु ऐसे भौतिकतावादी दार्शनिक भी हैं—यथा जैमिनि ऋषि की कर्म-मीमांसा के समर्थक—जो यह मानते हैं कि यह जगत ही एकमात्र सत्य है और यह शाश्वत रूप से विद्यमान रहता है। जैमिनि के अनुसार कर्म तथा उसके प्रतिफल का चक्र शाश्वत है, जिनसे छूट कर भिन्न दिव्य जगत में जाने की संभावना नहीं है। किन्तु उपनिषदों के मंत्रों के, जिनमें उच्चतर दिव्य जगत के अनेक वर्णन मिलते हैं ध्यानपूर्वक परीक्षण से यह दृष्टिकोण भ्रामक प्रदर्शित होता है। उदाहरणार्थ, *सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्*—हे बालक! इस सृष्टि से पूर्व एकमात्र ब्रह्म था, जो अद्वितीय है। (*छान्दोग्य उपनिषद्* ६.२.१)। यही नहीं, *विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म*—ब्रह्म दिव्य ज्ञान तथा आनन्द है (*बृहदारण्यक उपनिषद्* ३.९.३४)।

साक्षात् वेदों की इस स्तुति में भौतिकतावादियों के तर्क को *सत इदम् उत्थितं सत्* शब्दों द्वारा सारांश रूप में कहा गया है। सामान्य रूप से यह तर्क सही है कि किसी वस्तु से उत्पन्न वस्तु उस वस्तु से बनी होती है। उदाहरणार्थ, सोने से बने कुण्डल तथा अन्य गहने सोना ही हैं। इस तरह मीमांसक जन इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह जगत भी शाश्वत सत्य है क्योंकि जिस रूप में हम इस जगत को जानते हैं वह नित्य सत्य की अभिव्यक्ति है। किन्तु संस्कृत का अपादान कारक *सत:* (शाश्वत सत्य से)

कार्य तथा कारण में निश्चित पृथकता को बतलाने वाला है। अतएव *सत्* से जो भी उत्पन्न होता है, वह उससे सार्थक रूप से भिन्न होगा—अर्थात् क्षणिक होगा। इस तरह भौतिकतावादियों का तर्क दोषपूर्ण होता है, क्योंकि इससे जो सिद्ध करना होता है उसके विरुद्ध सिद्ध होता है (*तर्कहतम्*) अर्थात् इस जगत को जैसा हम जानते हैं, केवल वैसा ही है, यह नित्य है और इससे पृथक् कोई दिव्य सत्य नहीं है।

प्रतिरक्षा पक्ष में मीमांसक यह दावा कर सकते हैं कि वे अभेद नहीं सिद्ध करना चाहते, अपितु भेद की संभावना को अथवा दूसरे शब्दों में ज्ञात जगत से भिन्न किसी सत्य की संभावना को गलत सिद्ध करना चाहते हैं। मीमांसा तर्क के समर्थन का यह प्रयास *व्यभिचरति क्व च* जैसे पद से आसानी से निराकरित हो जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सामान्य नियम का विरोध करने वाले उदाहरण भी मिलते हैं। हाँ, कभी कभी स्रोत अपने से उत्पन्न वस्तु से अत्यधिक भिन्न होता है, जैसे कि मनुष्य तथा उसका युवक पुत्र या हथौड़ा तथा मिट्टी के घड़े का विनाश।

किन्तु मीमांसक उत्तर देते हैं कि ब्रह्माण्ड की सृष्टि उस तरह की नहीं है जैसे कि आपके अन्य *विपरीत उदाहरण* हैं: पिता तथा हथौड़ा मात्र सक्षम कारण हैं, जबकि सत् भी इस ब्रह्माण्ड का उपादान कारण है। इस उत्तर की आशा *क्व च मृषा* (कभी कभी कार्य भ्रामक होता है) शब्दों से की जाती है। जब पृथ्वी पर रस्सी में सर्प का भ्रम होता है, तो रस्सी सर्प के भ्रम का उपादान कारण है, जो काल्पनिक सर्प से कई मामलों में, विशेष रूप से सत्य होने के कारण भिन्न है।

मीमांसक फिर उत्तर देते हैं कि काल्पनिक सर्प का उपादान कारण रस्सी ही नहीं है—यह तो रस्सी अप्रेक्षक की अज्ञानता (*अविद्या*) है। चूँकि *अविद्या* वस्तु नहीं है, अतएव इससे उत्पन्न सर्प भ्रम कहलाता है। साक्षात् वेद उत्तर देते हैं कि इतने पर भी यह सत्य है कि अज्ञान के साथ सत् से (*तथोभययुक्*) ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती है। यहाँ पर भ्रम का काल्पनिक तत्त्व, माया, जीवों की यह भ्रान्त धारणा है कि उनके अपने शरीर तथा परिवर्तनशील अन्य भौतिक स्वरूप स्थायी हैं।

लेकिन मीमांसक प्रत्युत्तर देते हैं कि इस संसार विषयक हमारा अनुभव वैध है, क्योंकि जिन वस्तुओं का हम अनुभव करते हैं, वे हमारे व्यावहारिक कार्य के लिए उपयोगी हैं। यदि हमारे अनुभव वैध न होते तो हम कभी निश्चित न कर पाते कि हमारी अनुभूतियाँ तथ्यों के संगत हैं। हमारी दशा उस

मनुष्य जैसी होती जो पूरी जाँच-पड़ताल के बाद भी संशय करता कि रस्सी साँप हो सकती है। किन्तु नहीं। श्रुतियाँ यहाँ उत्तर देती हैं कि पदार्थ का नश्वर स्वरूप नित्य आध्यात्मिक सत्य का भ्रामक अनुकरण है, जिसे बद्धजीवों की भौतिक कर्म करने की इच्छा पूरी करने के लिए चतुराई से गढ़ा गया है (*व्यवहृतये विकल्प इषित:*)। इस जगत के स्थायित्व का भ्रम उन अन्धे पुरुषों की परम्परा द्वारा चालू रहता है, जो अपने पूर्वगामियों से भौतिकतावादी विचार सीखते हैं और अपने वंशजों को यह भ्रम हस्तान्तरित करते जाते हैं। कोई भी यह देख सकता है कि प्राय: भ्रम के आधार को हटा देने पर भी स्थायी मानसिक प्रभाव के बल के अन्तर्गत उसकी मानसिक छाप बनी रहती है। इस तरह पूरे इतिहास में अंधे दार्शनिकों ने अन्य अन्धे व्यक्तियों को यह आश्वस्त करके दिग्भ्रमित किया है कि वे संसारी अनुष्ठान करके सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। मूर्ख लोग भले ही जाली सिक्कों में पारस्परिक आदान-प्रदान कर लें, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति जानता है कि ऐसा धन भोजन, दवा तथा अन्य व्यापार की वस्तुएँ खरीदने के लिए व्यर्थ है। यदि इस जाली धन को दान में दिया जाय, तो इससे पुण्य भी नहीं मिलेगा।

लेकिन मीमांसक कहते हैं कि वैदिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने वाला निष्ठावान व्यक्ति मोहग्रस्त मूर्ख कैसे हो सकता है, क्योंकि वैदिक शास्त्रों की संहिताएँ तथा ब्राह्मण यह स्थापित करते हैं कि कर्म का फल शाश्वत है? उदाहरणार्थ, *अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिन: सुकृतं भवति*—चातुर्मास व्रत रखने वाले को अक्षय सद्कर्म मिलते हैं तथा *अपाम सोमम् अमृता बभूम*—हमने सोम रस पिया है और अमर हो चुके हैं (*ऋग्वेद* ८.४३.३)।

यह इंगित करके श्रुतियाँ उत्तर देती हैं कि ईश्वर के बुद्धिमत्तापूर्ण शब्द, जिनसे वेद बने हैं, उनको मोहित करते हैं, जिनकी क्षीण बुद्धि कर्म में अत्यधिक श्रद्धा के भार से कुचली जा चुकी है। यहाँ पर *उरु-वृत्तिभि:* विशिष्ट शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो बतलाता है कि वैदिक मंत्र गौण, लक्षणा आदि भाषा-वैज्ञानिक अर्थों से नाना प्रकार के भ्रामक अर्थ प्रदान करके अपने रहस्य की रक्षा सभी से करते हैं, सिवाय उनसे जिनकी श्रद्धा भगवान् विष्णु में है। अपने आदेशों में वास्तव में वेद यह नहीं कहते कि कर्म के फल शाश्वत हैं, अपितु रूपकों के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप में नियमित यज्ञों की प्रशंसा करते हैं। *छान्दोग्य उपनिषद्* निश्चित रूप से कहता है कि अनुष्ठानिक कर्म के फल अस्थायी होते हैं—*तद् यथेह कर्मचितो लोक: क्षीयते एवम् एवामुत्र पुण्यचितो लोक: क्षीयते*—जिस तरह इस जगत में कठिन

श्रम करके मनुष्य जो भी लाभ उठाना चाहता है, वह अन्तत: समाप्त हो जाता है, उसी तरह अपनी शुद्धता से मनुष्य अगले लोक में अपने लिए जो भी जीवन कमाता है, वह भी समाप्त हो जायेगा। (*छान्दोग्य उपनिषद्* ८.१.१६) अनेक श्रुति मंत्रों के प्रमाण के अनुसार सम्पूर्ण भौतिक जगत परम सत्य का क्षणिक उद्‌भव है। उदाहरणार्थ, *मुण्डक उपनिषद्* (१.१.७) कहता है—

यथोर्णनाभि: सृजते गृह्णते च

यथा पृथिव्याम् ओषधय: सम्भवन्ति।

यथा सत: पुरुषात् केशलोमानि

तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥

"जिस तरह मकड़ी द्वारा जाल का विस्तार किया जाता है और फिर समेट लिया जाता है, जिस तरह पौधे पृथ्वी से उगते हैं और जिस तरह जीवित व्यक्ति के सिर तथा शरीर पर बाल उगते हैं, उसी तरह यह ब्रह्माण्ड अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न होता है।"

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

उद्‌भूतं भवत: सतोऽपि भुवनं सन्नैव सर्प: स्रज:

कुर्वत् कार्यं अपीह कूतकनकं वेदोऽपि नैवं पर:।

अद्वैतं तव सत्परं तु परमानन्दं पदं तन्मुदा

वन्दे सुन्दरमिन्दिरानुत हरे मा मुञ्च मामानतम्॥

"यद्यपि यह जगत सत्य के सार रूप आप से उदय हुआ है, किन्तु यह शाश्वत रूप से सत्य नहीं है। रस्सी से प्रकट होने वाला भ्रामक सर्प स्थायी वास्तविकता नहीं होता, न ही स्वर्ण से उत्पन्न विकार ही। वेद कभी यह नहीं कहते कि ये वास्तविक हैं। वास्तविक दिव्य अद्वैत सत्य आपका परम आनन्दमय निजी धाम है। मैं उस धाम को नमस्कार करता हूँ। हे हरि! मैं भी आपको नमस्कार करता हूँ, जिन्हें देवी इन्दिरा सदैव नमस्कार करती हैं। इसलिए आप मुझे कभी भी छोड़ें नहीं।"

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना-
दनु मितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै-

वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यत्—क्योंकि; इदम्—यह (ब्रह्माण्ड); अग्रे—प्रारम्भ में; आस—था; न भविष्यत्—न होगा; अतः—अतः; निधनात् अनु—इसके संहार के बाद; मितम्—प्राप्त; अन्तरा—इस बीच; त्वयि—तुममें; विभाति—प्रकट होता है; मृषा—झूठा; एकरसे—जिसका आनन्द का अनुभव अपरिवर्तित रहता है; अतः—इस प्रकार; उपमीयते—तुलना से जाना जाता है; द्रविण—भौतिक वस्तु का; जाति—कोटियों में; विकल्प—विकारों के; पथैः—किस्मों से; वितथ—तथ्य से विपरीत; मनः—मन; विलासम्—विलास; ऋतम्—असली, सत्य; इति—ऐसा; अवयन्ति—सोचते हैं; अबुधः—बुद्धिहीन, अज्ञानी।

चूँकि यह ब्रह्माण्ड अपनी सृष्टि के पूर्व विद्यमान नहीं था और अपने संहार के बाद विद्यमान नहीं रहेगा, अतः हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि मध्यावधि में यह आपके भीतर दृश्य रूप में कल्पित होता है, जिनका आध्यात्मिक आनन्द कभी नहीं बदलता। हम इस ब्रह्माण्ड की तुलना विविध भौतिक वस्तुओं के विकारों से करते हैं। निश्चय ही, जो यह विश्वास करते हैं कि यह छोटी-सी कल्पना सत्य है, वे अल्पज्ञ हैं।

तात्पर्य : इस प्रकार अनुष्ठानवादियों द्वारा भौतिक सृष्टि की सत्यता स्थापित करने के सारे प्रयासों को विफल करने के बाद साक्षात् वेद इसके विरोध में साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं—कि यह संसार असत्य है, क्योंकि क्षणिक है। ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पूर्व तथा इसके संहार के बाद एकमात्र दिव्य भगवान्, उनके धाम तथा साज-सामान की सत्यता ही बची रहती है। श्रुतियाँ इसकी पुष्टि करती हैं—*आत्मा वा इदम् एक एवाग्र आसीत्*—इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पूर्व एकमात्र आत्मा विद्यमान था। (*ऐतरेय उपनिषद्* १.१) *नासद् आसीन् नो सद् आसीत् तदानीम्*—उस समय पदार्थ के न तो सूक्ष्म, न ही स्थूल पक्ष वर्तमान थे। (*ऋग्वेद* १०.१२९.१)

सृष्टि की सापेक्षता को एक दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है। जब मिट्टी तथा धातु को विभिन्न आकार की वस्तुओं में ढाल दिया जाता है. तो बनी हुई वस्तुएँ मिट्टी तथा धातु से केवल नाम तथा रूप के कारण पृथक् विद्यमान रहती हैं। उनकी मूलभूत वस्तु तो वही रहती है। इसी तरह से जब भगवान् की शक्तियाँ इस जगत की ज्ञात वस्तुओं में बदल जाती हैं, तो ये वस्तुएँ केवल नाम तथा रूप में भगवान् से पृथक् उपस्थित रहती हैं। *छान्दोग्य उपनिषद्* (६.१.४-६) में उद्दालक ऋषि ऐसा ही दृष्टान्त देकर अपने पुत्र को समझाते हैं—*यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्*—हे बालक! उदाहरणार्थ, मिट्टी के एक ढेले को समझ लेने पर मिट्टी से बनी हर वस्तु को समझा जा सकता है। रूपान्तरित पदार्थों की उपस्थिति केवल भाषा की

उपज है, उपाधियाँ प्रदान करने की बात है—केवल मिट्टी ही सत्य है।

निष्कर्ष के रूप में कोई ऐसा विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिलता कि इस जगत की वस्तुएँ शाश्वत हैं, जबकि उनके नश्वर होने तथा मिथ्या उपाधियों से बद्ध होने के अनेक प्रमाण हैं। इसलिए अज्ञानी व्यक्ति ही पदार्थ के काल्पनिक रूपों को सत्य मान सकते हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

मुकुटकुंडलकंकणकिंकिणीपरिणतं कनकं परमार्थत:।

महदहंकृतिखप्रमुखं तथा नरहरेर्न परं परमार्थत:॥

''मुकुट, कुण्डल, चूड़ियाँ तथा नूपुर जैसे स्वर्ण के रूपान्तर स्वर्ण से पृथक् नहीं हैं। इसी तरह से *महत्,* मिथ्या अहंकार तथा आकाश इत्यादि भौतिक तत्त्व अन्तत: भगवान् नरहरि से पृथक् नहीं हैं।''

स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्
भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभग: ।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो
महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभग: ॥ ३८॥

शब्दार्थ

स:—वह (जीव); यत्—क्योंकि; अजया—भौतिक शक्ति के प्रभाव से; तु—लेकिन; अजाम्—वह भौतिक शक्ति; अनुशयीत—लेट जाती है; गुणान्—अपने गुणों को; च—तथा; जुषन्—धारण करके; भजति—ग्रहण करता है; स-रूपताम्—(प्रकृति के गुणों के) सदृश रूप; तत्-अनु—उसके पीछे; मृत्युम्—मृत्यु; अपेत—रहित; भग:—सम्पत्ति का; त्वम्—तुम; उत—दूसरी ओर; जहासि—छोड़ देते हो; ताम्—उस (भौतिक शक्ति) को; अहि:—सर्प; इव—सदृश; त्वचम्—अपनी (पुरानी) खाल, केंचुल; आत्त-भग:—समस्त सम्पत्ति से युक्त; महसि—आपकी आध्यात्मिक शक्तियों में; महीयसे—आपकी महिमा गाई जाती है; अष्ट-गुणिते—आठगुनी; अपरिमेय—असीम; भग:—महानता।

मोहिनी प्रकृति सूक्ष्म जीव को, उसका आलिंगन करने के लिए आकृष्ट करती है और फलस्वरूप जीव उसके गुणों से बने रूप धारण करता है। बाद में वह अपने सारे आध्यात्मिक गुण खो देता है और उसे बारम्बार मृत्यु भोगनी पड़ती है। किन्तु आप भौतिक शक्ति से अपने को उसी तरह बचाते रहते हैं, जिस तरह सर्प पुरानी केंचुल त्यागता है। आप आठ योगसिद्धियों से महिमायुक्त स्वामी हैं और असीम ऐश्वर्य का भोग करते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि जीव शुद्ध आत्मा है और गुणात्मक दृष्टि से परमेश्वर के ही समान है, किन्तु वह भौतिक मोह (माया) के अज्ञान का आलिंगन करने से नीचे गिरता रहता है। जब वह माया के बहकावों में फँस जाता है, तो वह ऐसे शरीर तथा इन्द्रियाँ अपनाता है, जो उसे विस्मृति की ओर ले

जाने वाले होते हैं। माया के तीन गुणों—सतो, रजो, तमो—रूपी कच्चे माल से बने ये शरीर आत्मा को नाना प्रकार के दुखों में फँसा देते हैं, जिनका अन्त मृत्यु तथा पुनर्जन्म में होता है।

परमात्मा तथा आत्मा एक ही आध्यात्मिक प्रकृति में साझेदार हैं, किन्तु परमात्मा अपने सूक्ष्म साथी की तरह अज्ञान के जाल में नहीं फँसता। भले ही धुआँ ताँबे के छोटे-से पिघले हुए गोले की चमक को छिपा ले, किन्तु सूर्य का विशाल मंडल उसी प्रकार से आच्छादित नहीं हो सकता। आखिर माया भगवान् की आज्ञाकारिणी दासी है और उनकी अन्तरंगा शक्ति योगमाया का बाहरी अंश है। *श्री नारद पञ्चरात्र* में श्रुति तथा विद्या के मध्य बातचीत में कहा गया है—

अस्या आवरिकाशक्तिर्महामायाखिलेश्वरी।

यया मुग्धं जगत् सर्वं सर्वे देहाभिमानिन:॥

''उससे निकली आवरण शक्ति महामाया है, जो प्रत्येक भौतिक वस्तु की नियामक है। सारा ब्रह्माण्ड उसके द्वारा मोहग्रस्त हो जाता है और इस तरह प्रत्येक जीव अपनी पहचान गलती से अपने भौतिक शरीर से करता है।''

जिस प्रकार सर्प अपनी पुरानी केंचुल यह जानते हुए भी निकाल फेंकता है कि यह उसकी असली पहचान का भाग नहीं है, उसी तरह भगवान् भी अपनी बहिरंगा शक्ति माया से सदैव अपने को बचाते हैं। उनके आठ प्रकार के योग-ऐश्वर्यों—यथा *अणिमा* (सूक्ष्म होने की शक्ति), *महिमा* (परम विशाल होने की शक्ति) आदि में न तो कोई कमी है, न ही कोई सीमा। अतएव उनकी अद्वितीय तेजस्वी महिमा में भौतिक अंधकार की छाया के प्रवेश करने की गुंजाईश नहीं रह जाती।

जिनमें आध्यात्मिक जीवन की अनुभूति धीरे-धीरे जागृत हो रही होती है उनके लिए कभी कभी उपनिषद् *आत्मा* या ब्रह्म जैसे सामान्य शब्दों का प्रयोग करते हैं—वे परमात्मा तथा जीवात्मा के भेद को खुल कर स्पष्ट नहीं करते। किन्तु प्राय: वे इस द्वैत को स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

''एक ही पीपल वृक्ष की शरण में दो संगी पक्षी बैठते हैं, उनमें से एक वृक्ष के फलों का आस्वाद ले रहा है, जबकि दूसरा खाने से विमुख रह कर अपने मित्र को देखता रहता है।'' (*श्वेताश्वतर*

उपनिषद् ४.६) इस दृष्टान्त में दो पक्षी आत्मा तथा परमात्मा हैं, वृक्ष शरीर है और फलों का स्वाद नाना प्रकार के इन्द्रिय-सुख हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

नृत्यन्ती तव वीक्षणांगणगता कालस्वभावादिभिर्

भावान् सत्त्वरजस्तमोगुणमयान् उन्मीलयन्ती बहून्।

मामाक्रम्य पदा शिरस्यतिभरं सम्मर्दयन्त्यातुरं

माया ते शरणं गतोऽस्मि नृहरे त्वामेव तां वारय॥

"आप अपनी प्रेयसी पर वह दृष्टि डालते हैं, जो काल, जीवों की भौतिक लालसाओं इत्यादि से युक्त है। यह दृष्टि उसके मुख पर नाचती है और इस तरह असंख्य उत्पन्न जीवों को जगाने वाली है, जो सतो, रजो तथा तमो गुणों में जन्म लेते हैं। हे भगवान् नरहरि! आपकी माया ने अपना पाँव मेरे सिर पर रख दिया है और वह मुझे बुरी तरह दबा रही है, जिससे मुझे अपार कष्ट हो रहा है। अब मैं आपके पास शरण के लिए आया हूँ। कृपया उसे रोकें।"

यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा
दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः ।
असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगव-
न्ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद्भवतः ॥ ३९॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; न समुद्धरन्ति—उखाड़ नहीं फेंकते; यतयः—संन्यासी लोग; हृदि—अपने हृदयों में; काम—कामेच्छा के; जटाः—चिह्न; दुरधिगमः—साक्षात्कार करना असम्भव; असताम्—अशुद्ध के लिए; हृदि—हृदय में; गतः—प्रवेश करके; अस्मृत—विस्मृत; कण्ठ—गर्दन पर; मणिः—मणि; असु—प्राण; तृप—तृप्ति करने वाला; योगिनाम्—योगियों के लिए; उभयतः—दोनों (संसारों) में; अपि—भी; असुखम्—दुख; भगवन्—हे भगवान्; अनपगत—नहीं गया हुआ; अन्तकात्—मृत्यु से; अनधिरूढ—अप्राप्त; पदात्—जिसका राज्य; भवतः—आपसे।

सन्यास-आश्रम के जो सदस्य अपने हृदय से भौतिक इच्छा को समूल उखाड़ कर फेंक नहीं देते, वे अशुद्ध बने रहते हैं और इस तरह आप उन्हें अपने को समझने नहीं देते। यद्यपि आप उनके हृदयों में वर्तमान रहते हैं, किन्तु उनके लिए आप उस मणि की तरह हैं, जिसे मनुष्य गले में पहने हुए भी भूल जाता है कि वह गले में है। हे प्रभु, जो लोग केवल इन्द्रिय-तृप्ति के लिए योगाभ्यास करते हैं, उन्हें इस जीवन में तथा अगले जीवन में भी उस मृत्यु से, जो उन्हें नहीं

छोड़ेगी, दण्ड मिलना चाहिए और आपसे भी, जिनके धाम तक, वे नहीं पहुँच सकते।

तात्पर्य : वैराग्य के दिखावा मात्र से कोई व्यक्ति भगवद्धाम में प्रवेश नहीं पा सकता। उसे पूरी तरह से अपना हृदय परिवर्तित करना होगा, जिससे इन्द्रिय-तृप्ति की आत्मनाशी, सूक्ष्म तथा स्थूल, आदतें पूरी तरह नष्ट हो जाँय। असली ऋषि को न केवल अवैध यौन, मांसाहार, नशा तथा जुआ खेलने के विचार तक से दूर रहना चाहिए, अपितु उसे ख्याति तथा पद की इच्छाओं को भी त्यागना होगा। ये सारी बातें भयानक चुनौती स्वरूप हैं, लेकिन कृष्णभावनामृत में असली वैराग्य का फल जीवन-भर प्रयास करते रहने के योग्य है।

मुण्डक उपनिषद् (३.२.२) से इस श्लोक के कथन की पुष्टि होती है—*कामान् यः कामयते मन्यमानः स कर्मभिर्जायते तत्र तत्र*—यदि एक विचारशील संन्यासी भी सांसारिक इच्छाएँ रखता है, तो उसे विभिन्न परिस्थितियों में अपने कर्मफलों के अनुसार बारम्बार जन्म लेने के लिए विवश होना पड़ेगा। दार्शनिक तथा योगीजन जन्म-मृत्यु से मुक्त होने के लिए कठिन श्रम करते हैं, लेकिन अपनी गर्वीली स्वतंत्रता को समर्पित न करने की इच्छा के कारण उनका ध्यान भगवद्भक्ति से रहित होता है और इस तरह वे संन्यास की सिद्धि से—शुद्ध भगवत्प्रेम से—विहीन रह जाते हैं। यही शुद्ध प्रेम सच्चे वैष्णवों का एकमात्र लक्ष्य होता है, अतएव उसे लाभ, प्रशंसा तथा ख्याति के स्वाभाविक लोभों का सचेत रह कर सामना करना चाहिए। साथ ही निर्विशेष में तादाकार होने की आन्तरिक इच्छा का भी विरोध करना चाहिए जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्तिरसामृतसिंधु* (१.१.११) में कहा है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

''जब उच्च कोटि की भक्ति उत्पन्न हो, तो मनुष्य को समस्त भौतिक इच्छाओं, एकेश्वरवाद से प्राप्त ज्ञान तथा सकाम कर्म से रहित होना चाहिए। भक्त को चाहिए कि वह कृष्ण की सदैव अनुकूल सेवा करे, जैसाकि कृष्ण चाहते हैं।''

जो लोग अपनी इन्द्रियों को प्रसन्न रखने के लिए ही कठिन योगाभ्यास करते हैं, उन्हें दीर्घकालीन कष्ट भोगना ही पड़ेगा। भूख, रोग, बुढ़ापा, दुर्घटना से चोट, अन्यों से हिंसा—ये कष्ट के असंख्य प्रकारों में से कुछेक कष्ट हैं, जिन्हें इस संसार में कम-ज्यादा मात्रा में उठाना पड़ सकता है। अन्ततः

मृत्यु प्रतीक्षा करती रहती है, जिसके बाद पाप कार्यों के लिए पीड़ाजनक दंड मिलता है। विशेष रूप से वे, जो अन्यों के जीवन के बल पर स्वतंत्र रूप से ऐन्द्रिय भोग-विलास करते हैं, वे कल्पनातीत कठोर दण्ड की आशा रख सकते हैं। लेकिन भौतिक जीवन का सबसे बड़ा कष्ट इस जीवन में दुर्भाग्य या मृत्यु के बाद नरक भेजा जाना न होकर, भगवान् से अपने नित्य सम्बन्ध की विस्मृति से उत्पन्न रिक्तता है।

श्रील श्रीधर स्वामी स्तुति करते हैं—

दम्भन्यासमिषेण वञ्चितजनं भोगैकचिन्तातुरं

सम्मुह्यन्तमहरनिशं विरचितोद्योगक्लमैराकुलम्।

आज्ञालंघिनमज्ञमज्ञजनता सम्माननासन्मदं

दीनानाथ दयानिधान परमानन्द प्रभो पाहि माम्॥

"जो वञ्चक संन्यास के बहाने अपने को धोखा देता है, वह केवल इन्द्रिय-भोग का चिन्तन करने के कारण निरन्तर कष्ट पाता रहता है। वह दिन-रात मोहग्रस्त हुआ अपने लिए किए गए अथक प्रयासों के विफल होने से निराश होता है। यह मूर्ख आपके नियमों का उल्लंघन करता है और अन्य मूर्खों से आदर पाने के लोभ में भ्रष्ट हो जाता है। हे पतितों के रक्षक, हे दया के देने वाले, हे परम आनन्दमय स्वामी! आप उस व्यक्ति को, जो कि मैं हूँ, बचाइये।"

त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो-
र्गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृतां च गिरः ।
अनुयुगमन्वहं सगुण गीतपरम्परया
श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

त्वत्—तुम्हें; अवगमी—जानने वाला; न वेत्ति—परवाह नहीं करता; भवत्—आप से; उत्थ—उठ कर; शुभ-अशुभयोः—शुभ तथा अशुभ का; गुण-विगुण—अच्छे-बुरे का; अन्वयान्—लक्षणों को; तर्हि—फलस्वरूप; देह-भृताम्—देहधारी जीवों का; च—भी; गिरः—शब्द; अनु-युगम्—हर युग में; अनु-अहम्—प्रतिदिन; स-गुण—हे गुणों से युक्त; गीत—गीत की; परम्परया—परम्परा से; श्रवण—सुन कर के; भृतः—ले जाया गया; यतः—इसके कारण; त्वम्—तुम; अपवर्ग—मोक्ष का; गतिः—चरम लक्ष्य; मनुजैः—मनुष्यों द्वारा, मनु के वंशजों द्वारा।

जब मनुष्य आपका साक्षात्कार कर लेता है, तो वह अपने विगत पवित्र तथा पापमय कर्मों से उदित होने वाले अच्छे तथा बुरे भाग्य की परवाह नहीं करता, क्योंकि इस अच्छे तथा बुरे

भाग्य को नियंत्रित करने वाले एकमात्र आप हैं। ऐसा स्वरूपसिद्ध भक्त इसकी भी परवाह नहीं करता कि सामान्य जन उसके विषय में क्या कह रहे हैं। वह प्रतिदिन अपने कानों को आपके यशों से भरता रहता है, जो हर युग में मनु के वंशजों की अविच्छिन्न परम्परा से गाये जाते हैं। इस तरह आप उसका चरम मोक्ष बन जाते हैं।

तात्पर्य : श्लोक ३९ में स्पष्ट कहा गया है कि निर्विशेषवादी सन्यासियों को जन्म-जन्मांतर कष्ट भोगना होगा। कोई यह प्रश्न कर सकता है कि क्या यह कष्ट उचित है, क्योंकि उस संन्यासी में भक्ति की प्रवृत्ति हो या न हो, उसके पद के कारण उसे कष्ट से विमुक्त रखा जाना चाहिये? जैसाकि श्रुति मंत्र कहता है—*एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्*—ब्राह्मण की शाश्वत महिमा उसके किसी कर्म से कभी घटती-बढ़ती नहीं है (*बृहदारण्यक उपनिषद्* ४.४-२८)। इस उठाये गये आक्षेप के प्रत्युत्तर में ही साक्षात् वेद यह स्तुति कर रहे हैं।

निर्विशेषवादी ज्ञानी तथा योगी कर्मफल से पूरी छूट पाने के योग्य नहीं होते, क्योंकि यह छूट तो केवल उनके लिए सुरक्षित होती है, जो *त्वदवगमी* हैं—अर्थात् शुद्ध भक्त जो भगवान् विषयक कथाओं को सुनने तथा उनका कीर्तन करने में निरन्तर लगे रहते हैं। ये भक्त अपने कठोर कृष्णभावनामृत के द्वारा भगवान् के चरणकमलों पर दृढ़ता से टिके रहते हैं, अतएव उन्हें वेदों की विधियों तथा निषेधों का दृढ़ता से पालन करने की आवश्यकता नहीं रहती। वे भगवान् की प्रसन्नता के लिए ही कर्म करते हैं, अतएव वे निर्भय होकर इन कर्मों के अच्छे तथा बुरे बाहरी फलों की उपेक्षा कर सकते हैं। इसी तरह वे अपनी बड़ाई या बुराई में कहे गये अन्यों के शब्दों की भी उपेक्षा कर सकते हैं। एक विनीत वैष्णव, जो कि संकीर्तन के आनन्द में लीन रहता है, अपनी प्रशंसा की जिसे वह गलत मानता है, परवाह नहीं करता, परन्तु अपनी आलोचना प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करता है, क्योंकि इसे वह उपयुक्त समझता है।

भगवान् की महिमा का प्रामाणिक कीर्तन "मनु के पुत्रों" से निष्ठापूर्वक सुन कर प्राप्त किया जाता है, क्योंकि यह युग-युगों से चली आ रही सन्त वैष्णवों की शिष्य-परम्परा है। ये ऋषि मनुष्य के पूर्वज स्वायंभुव मनु के उदाहरण का अनुकरण करते हैं—

अयातयामास्तस्यासन् यामा: स्वान्तरयापना:।
शृण्वतो ध्यायतो विष्णो: कुर्वतो ब्रुवत: कथा:॥

''यद्यपि स्वायम्भुव का दीर्घ जीवन धीरे-धीरे समाप्त हो रहा था, जो एक मन्वन्तर युग का था, किन्तु वह व्यर्थ में नहीं बीता, क्योंकि वह भगवान् की लीलाओं को सुनने, मनन करने, लिखने तथा उच्चारण करने में सदैव लगा रहता था।'' (*भागवत* ३.२२.३५)

यदि कोई नवदीक्षित भक्त भी अपने पूर्व दुर्गुणों के कारण उचित आचरण के मानदण्ड से नीचे गिरता है, तब भी सर्व-दयामय भगवान् उसका परित्याग नहीं करेंगे। जैसाकि भगवान् कृष्ण कहते हैं—

तैरहं पूजनीयो वै भद्रकृष्णनिवासिभिः।

तद्धर्मगतिहीना ये तस्यां मयि परायणाः॥

कलिना ग्रसिता ये वै तेषां तस्यामवस्थितिः।

यथा त्वं सह पुत्रैश्च यथा रुद्रो गणै सह।

यथा श्रियाभियुक्तोऽहं तथा भक्तो मम प्रियः॥

''जो लोग भद्रकृष्ण (मथुरा जनपद) में रहते हैं, उनके लिए मैं ही पूजनीय हूँ। यदि उस स्थान के निवासी किसी पवित्र स्थान में पालन किये जाने वाले धार्मिक नियमों का ढंग से अनुशीलन नहीं भी करते, तो भी वे वहाँ रहने के कारण मेरी भक्ति में लगे रहते हैं। चाहे कलि (आधुनिक कलहपूर्ण युग) भी उन्हें अपने चंगुल में क्यों न कर ले, तो भी उन्हें इस स्थान में रहने का श्रेय मिलता है। मथुरावासी मेरा भक्त मुझे उतना ही प्रिय है, जितना कि आप (ब्रह्मा) तथा आपके पुत्र—रुद्र तथा उनके अनुयायी—एवं देवी लक्ष्मी तथा स्वयं मैं।''

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

अवगमं तव मे दिश माधव स्फुरति यन्न सुखासुखसंगमः।

श्रवणवर्णनभावमथापि वा न हि भवामि यथा विधिकिंकरः॥

''हे माधव! ऐसा करें कि मैं आपको समझूँ, जिससे मैं भौतिक सुख तथा दुख के पाश का और अधिक अनुभव न कर सकूँ। या फिर अच्छा हो कि आप अपने विषय में श्रवण तथा कीर्तन करने का आस्वाद मुझे प्रदान करें। उस स्थिति में मैं आनुष्ठानिक आधिदेशों का दास नहीं रह जाऊँगा।''

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया

त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः ।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छुतय-
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

द्यु—स्वर्ग के; पतयः—स्वामी; एव—भी; ते—तुम्हारा; न ययुः—नहीं पहुँच सकते; अन्तम्—अन्त; अनन्ततया—अनन्त होने से; त्वम्—तुम; अपि—भी; यत्—जिसको; अन्तर—भीतर; अण्ड—ब्रह्माण्डों के; निचयाः—समूह; ननु—निस्सन्देह; स—सहित; आवरनाः—अपने बाहरी खोल; खे—आकाश में; इव—सदृश; रजांसि—धूल के कण; वान्ति—इधर-उधर उड़ते हैं; वयसा सह—कालचक्र के साथ; यत्—क्योंकि; श्रुतयः—वेद; त्वयि—तुममें; हि—निस्सन्देह; फलन्ति—फलते हैं; अतत्—ब्रह्म से भिन्न है, जो, उसका; निरसनेन—निरस्त करने से; भवत्—आप में; निधनाः—जिनका अन्तिम निष्कर्ष।

चूँकि आप असीम हैं, अतः न तो स्वर्ग के अधिपति, न ही स्वयं आप अपनी महिमा के छोर तक पहुँच सकते हैं। असंख्य ब्रह्माण्ड अपने अपने खोलों में लिपटे हुए कालचक्र के द्वारा आपके भीतर घूमने के लिए उसी तरह बाध्य हैं, जिस तरह कि आकाश में धूल के कण इधर-उधर उड़ते रहते हैं। श्रुतियाँ आपको अपने अन्तिम निष्कर्ष के रूप में प्रकट करके सफल बनती हैं, क्योंकि वे आपसे पृथक् हर वस्तु को अपनी निरसन विधि से विलुप्त कर देती हैं।

तात्पर्य : अपनी अन्तिम स्तुति में साक्षात् वेद इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सारी श्रुतियाँ अपने विविध शाब्दिक तथा अलंकारिक संदर्भों द्वारा भगवान् की पहचान और उनके निजी गुणों तथा शक्तियों का ही वर्णन करती हैं। उपनिषद् तो उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं—*यद् ऊर्ध्वं गार्गि दिवो यदर्वाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद् भूतं भवच्च भविष्यच्च*—हे गर्गपुत्री! उसकी महानता हमारे ऊपर स्वर्ग की प्रत्येक वस्तु को, पृथ्वी के नीचे की प्रत्येक वस्तु को, स्वर्ग और पृथ्वी के बीच की प्रत्येक वस्तु को तथा प्रत्येक वस्तु, जो कभी थी, अब है या आगे होगी, उन सबको समाविष्ट करने वाली है (*बृहदारण्यक उपनिषद्* ३.८.४)।

श्रुतियों की इस अन्तिम स्तुति के अर्थ पर प्रकाश डालने के लिए श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर भगवान् नारायण तथा साक्षात् वेदों के बीच हुई निम्नलिखित वार्ता प्रस्तुत करते हैं—

वेदों ने कहा: "ब्रह्मा तथा स्वर्गलोकों के अन्य शासक अभी तक आपके यश के अन्तिम छोर तक नहीं पहुँच पाये हैं। तो हम क्या कर सकते हैं, क्योंकि इन महान् देवताओं की तुलना में हम तुच्छ हैं?"

भगवान् नारायण ने कहा: "नहीं, तुम श्रुतियाँ इस ब्रह्माण्ड पर शासन करने वाले देवताओं की अपेक्षा अधिक दिव्यदृष्टि वाली हो। यदि तुम नहीं रुकोगी तो तुम मेरी महिमा का पार पा सकती हो।"

''लेकिन आप भी अपनी सीमा नहीं पा सकते।''

''यदि ऐसा ही है, तो फिर तुम सब मुझे सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान क्यों कहती हो?''

''हमने तो यह निष्कर्ष निकाला है कि आप में ये गुण विद्यमान हैं; इस आधार पर निकाला है कि आप असीम हैं। निस्सन्देह यदि कोई व्यक्ति ऐसी वस्तु से अनजान है, जिसका अस्तित्व ही नहीं होता जैसे कि खरहे के सींग, तो इसके कारण वह अपनी सर्वज्ञता से विपथ नहीं होता और यदि वह ऐसी न होने वाली वस्तु को खोज नहीं पाता तो इससे उसकी सर्वशक्तिमत्ता सीमित नहीं हो जाती। आप इतने विशाल हैं कि आपके भीतर ब्रह्माण्डों के समूह के समूह तैरते रहते हैं। इनमें से हर ब्रह्माण्ड भौतिक तत्त्वों से बने सात आवरणों से घिरा रहता है और इनमें से प्रत्येक एक केन्द्रीय आवरण अपने से भीतर वाले से दस गुना बड़ा होता है। यद्यपि हम आपके विषय में सत्य का पूरा वर्णन कभी नहीं कर पायेंगी, किन्तु यह घोषित करके कि आप ही वेदों के असली विषय हैं, अपने अस्तित्व को सफल बनाती हैं।''

''लेकिन तुम असन्तुष्ट क्यों लगती हो?''

''क्योंकि श्रील वेदव्यास ने वेदों में ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के दिव्य अस्तित्व के विषय में संक्षिप्त विवरण दिया है। जब उन्होंने ब्रह्म विषयक अपने वर्णन को विशद बनाने की आवश्यकता अनुभव की, तो उन्होंने ब्रह्म के निर्विशेष पक्ष को ही चुना जो *तत्* है और ब्रह्म का, उनसे भिन्न जो कुछ है, उसे नकार कर ही, वर्णन किया। जिस तरह किसी खेत में अकस्मात् बिखेरे गये मणियों को अनावश्यक पत्थर एवं घास-फूस हटा कर बटोरा जा सकता है, उसी तरह माया तथा उसकी सृष्टियों के दृश्य जगत में ब्रह्म को निरसन विधि द्वारा खोजा जा सकता है। चूँकि वेद जगत में प्रत्येक वस्तु, उसकी सत्ता, गुण इत्यादि को आदि से अन्त तक गिना नहीं सकते और चूँकि ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् विषयक सत्य इतने पर भी अछूता रहता रहेगा, अत: यदि हम सभी वस्तुओं का वर्णन भी करें और फिर उनको त्याग दें, तो भी हम जाँच-पड़ताल की इस विधि से आपकी अन्तिम परिभाषा तक नहीं पहुँच सकतीं। आपकी कृपा से ही हम परम अगम्य ब्रह्म आपके पास तक पहुँचने का प्रयास कर सकती हैं।''

श्रुतियों के ऐसे अनेक कथन हैं, जो *अतन्निरसनम्* अर्थात् अधम वस्तुओं से ब्रह्म को पहचानने और अलग बताने की विधि का कार्य करते हैं। उदाहरणार्थ, *बृहदारण्यक उपनिषद्* का कथन है

(३.८.८)—*अस्थूलमनणु*

अह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसंगमरसमगन्धमचक्षुष्कम-

श्रोत्रमगमनोऽतेजस्कमप्राणमसुखममात्रमनन्तरमबाह्यम्—"यह न तो बड़ा है न छोटा, न नाटा न लम्बा, न गर्म न ठंडा, न छाया में न अंधकार में। न ही यह वायु है न आकाश। यह किसी वस्तु के सम्पर्क में नहीं है। इसमें भीतर या बाहर कोई स्वाद, गंध, आँखें, कान, गति, शक्ति, प्राण, आनन्द, माप नहीं है।" *केन उपनिषद* (३) की घोषणा है—*अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि*—जो ज्ञात है और अभी जिसे ज्ञात होना है उससे ब्रह्म भिन्न है। तथा *कठ उपनिषद्* का कथन है (२.१४)—*अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्*—ब्रह्म धर्म तथा अधर्म, पाप तथा पुण्यकर्मों के क्षेत्र से बाहर है।

भाषाविज्ञान तथा तर्क के नियमों के अनुसार निषेध असीम नहीं हो सकता, इसका कोई प्रतिपक्ष भी होना चाहिए, जिसका यह निषेध होता है। वेदों के *अतन्निरसनम्* में उनके इस निषेध का कि कोई भी वस्तु पूर्णतया सत्य है, इसका प्रतिपक्ष भगवान् श्रीकृष्ण हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी प्रार्थना करते हैं—

द्युपतयो विदुरन्तमनन्त ते न च भवान् न गिरः श्रुतिमौलयः।
त्वयि फलन्ति यतो नम इत्यतो जय जयेति भजे तव तत्पदम्॥

"हे अनन्त! स्वर्ग के देवता आपकी सीमा नहीं जानते, यहाँ तक कि आप भी इसे नहीं जानते। चूँकि सर्वोच्च श्रुतियों के दिव्य शब्द आपको प्रकट करने से फलदायी हो जाते हैं, अतएव मैं आपको नमस्कार करता हूँ। इस तरह मैं "आपकी जय हो, आपकी जय हो" यह कह कर ब्रह्म के रूप में आपकी पूजा करता हूँ।"

श्रीभगवानुवाच
इत्येतद्ब्रह्मणः पुत्रा आश्रुत्यात्मानुशासनम् ।
सनन्दनमथानर्चुः सिद्धा ज्ञात्वात्मनो गतिम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्री भगवान् (नारायण ऋषि) ने कहा; इति—इस तरह; एतत्—यह; ब्रह्मणः—ब्रह्मा के; पुत्राः—पुत्रगण; आश्रुत्य—सुन कर; आत्म—आत्मा के विषय में; अनुशासनम्—उपदेश; सनन्दनम्—सनन्दन ऋषि की; अथ—तब; आनर्चुः—उन्होंने पूजा की; सिद्धाः—पूर्णतया तुष्ट; ज्ञात्वा—जान कर; आत्मनः—अपना; गतिम्—चरम गन्तव्य।

भगवान् श्री नारायण ऋषि ने कहा : परमात्मा के विषय में ये आदेश सुन कर ब्रह्मा के पुत्रों

को अपना चरम गन्तव्य समझ में आ गया। वे पूरी तरह सन्तुष्ट हो गये और उन्होंने सनन्दन की पूजा करके उनका सम्मान किया।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि *आत्मानुशासनम्* को जीवात्माओं के लाभ हेतु दिये गये उपदेश तथा समस्त जगत के आधार के साथ जीव के सम्बन्ध के विषय में उपदेश—दोनों ही समझा जा सकता है। इसी प्रकार *आत्मनो गतिम्* से जीवात्मा का गन्तव्य तथा परमात्मा तक पहुँचने के साधन दोनों ही अर्थ निकलते हैं। साक्षात् वेदों की अट्ठाइस स्तुतियाँ सुन कर जो इस अध्याय के प्रारम्भ में कही गईं ब्रह्मोपनिषद् की व्याख्या है, ब्रह्मलोक में समवेत ऋषियों को शुद्ध भगवत्प्रेम के लक्ष्य की ओर बढ़ने में अत्यन्त सहायता मिली।

इत्यशेषसमाम्नायपुराणोपनिषद्रसः ।
समुद्धृतः पूर्वजातैर्व्योमयानैर्महात्मभिः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अशेष—समस्त; समाम्नाय—वेदों; पुराण—तथा पुराणों का; उपनिषत्—गुह्य रहस्य; रसः—रस; समुद्धृतः—निचोड़ा हुआ; पूर्व—विगत भूत में; जातैः—उत्पन्न हुओं से; व्योम—ब्रह्माण्ड के उच्चतर भागों में; यानैः—यात्रा करने वाले; महा-आत्मभिः—सन्त-पुरुषों द्वारा।

इस तरह उच्चतर स्वर्गलोकों में विचरण करने वाले प्राचीन सन्तों ने सारे वेदों तथा पुराणों के इस अमृतमय तथा गुह्य रस को निचोड़ लिया।

त्वं चैतद्ब्रह्मदायाद श्रद्धयात्मानुशासनम् ।
धारयंश्चर गां कामं कामानां भर्जनं नृणाम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; च—तथा; एतत्—यह; ब्रह्म—ब्रह्मा के; दायाद—हे उत्तराधिकारी (नारद); श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; आत्म-आनुशासनम्—आत्मा के विषय में उपदेशों पर; धारयन्—ध्यान करते हुए; चर—विचरण करते हैं; गाम्—पृथ्वी पर; कामम्—अपनी इच्छानुसार; कामानाम्—भौतिक इच्छाओं को; भर्जनम्—जो जलाने वाले हैं; नृणाम्—मनुष्यों की।

और चूँकि तुम पृथ्वी पर इच्छानुसार विचरण करते हो, अतः, हे ब्रह्मा-पुत्र, तुम्हें आत्मविज्ञान विषयक इन उपदेशों पर श्रद्धापूर्वक ध्यान करना चाहिए, क्योंकि ये सारे मनुष्यों की भौतिक इच्छाओं को भस्म कर देते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा के पुत्र नारद ने यह विवरण श्री नारायण ऋषि से सुना। *ब्रह्मदायाद* का यह भी अर्थ है कि नारद ने बिना प्रयास के ही ब्रह्म पा लिया, मानो यह उसका जन्मसिद्ध अधिकार हो।

श्रीशुक उवाच
एवं स ऋषिणादिष्टं गृहीत्वा श्रद्धयात्मवान् ।
पूर्णः श्रुतधरो राजन्नाह वीरव्रतो मुनिः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एवम्—इस प्रकार से; सः—वह (नारद); ऋषिणा—ऋषि (नारायण ऋषि) द्वारा; आदिष्टम्—आदेश दिया गया; गृहीत्वा—स्वीकार करके; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; आत्म-वान्—आत्मवान; पूर्णः—अपने कार्यों में सफल; श्रुत—उसने जो कुछ सुना था, उस पर; धरः—ध्यान करते हुए; राजन्—हे राजा (परीक्षित); आह—कहा; वीर—वीर क्षत्रिय की तरह; व्रतः—जिसका व्रत; मुनिः—मुनि ने।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : जब श्री नारायण ऋषि ने उन्हें इस तरह आदेश दिया, तो आत्मवान नारद मुनि ने उस आदेश को दृढ़ निष्ठा के साथ स्वीकार कर लिया, क्योंकि उनका व्रत एक योद्धा जैसा वीत्वपूर्ण होता है। हे राजन्, अब अपने सारे कार्यों में सफल होकर, उन्होंने जो कुछ सुना था, उस पर विचार किया और भगवान् को इस प्रकार उत्तर दिया।

श्रीनारद उवाच
नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलकीर्तये ।
यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोशतीः कलाः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; नमः—नमस्कार; तस्मै—उस; भगवते—भगवान्; कृष्णाय—कृष्ण को; अमल—निष्कलुष; कीर्तये—जिसकी कीर्ति; यः—जो; धत्ते—प्रकट करता है; सर्व—सारे; भूतानाम्—जीवों के; अभवाय—मुक्ति हेतु; उशतीः—सर्व-आकर्षक; कलाः—अंश।

श्री नारद ने कहा : मैं उन निर्मल कीर्ति वाले भगवान् कृष्ण को नमस्कार करता हूँ, जो अपने सर्व-आकर्षक साकार अंशों को इसलिए प्रकट करते हैं, जिससे सारे जीव मुक्ति प्राप्त कर सकें।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी की टिप्पणी है कि श्री नारायण ऋषि को नारद द्वारा भगवान् कृष्ण के अवतार रूप में सम्बोधित किया जाना सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि यह *श्रीमद्भागवत* के निम्न कथन (१.३.२८) के अनुकूल है—*एते चांशकलाः पुंसः/कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*—उपर्युक्त सारे अवतार (नारायण ऋषि सहित) या तो स्वांश हैं या भगवान् के स्वांश के अंश हैं, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण आदि भगवान् हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस श्लोक की टीका में भगवान् नारायण ऋषि द्वारा पुछवाया है, “तुम अपने समक्ष खड़े अपने गुरु मुझे नमस्कार न करके कृष्ण को क्यों नमस्कार कर रहे हो?” नारद अपने

कार्य की यह कह कर व्याख्या करते हैं कि भगवान् कृष्ण बद्धजीवों के भौतिक जीवन का अन्त करने के लिए श्री नारायण ऋषि जैसे सर्वाकर्षक रूप में अवतरित होते हैं। अतएव श्रीकृष्ण को नमस्कार करने से नारद नारायण ऋषि तथा ईश्वर के अन्य समस्त स्वरूपों का भी आदर करते हैं।

नारद की यह स्तुति वह अमृत है, जिसे उन्होंने साक्षात् वेदों की स्तुतियों से निकाला है और ये स्तुतियाँ वेदों तथा पुराणों के समस्त रहस्यों के मधुर समुद्र से मंथन करके निकाली गई हैं। जैसी कि *गोपालतापनी उपनिषद्* (पूर्व ५०) की संस्तुति है—*तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत् तं रसयेत् तं भजेत् तं यजेद् इति। ॐ तत्सत्।* "इसलिए कृष्ण परम ईश्वर हैं। मनुष्य को चाहिए कि उन्हीं का ध्यान करे, उन्हीं से प्रेम के आदान-प्रदान का स्वाद ले, उन्हें ही पूजे और उन्हीं को यज्ञ अर्पित करे।"

इत्याद्यमृषिमानम्य तच्छिष्यांश्च महात्मनः ।
ततोऽगादाश्रमं साक्षात्पितुर्द्वैपायनस्य मे ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार बोलते हुए; आद्यम्—आदि; ऋषिम्—ऋषि (नारायण ऋषि) को; आनम्य—शीश झुकाकर; तत्—उसके; शिष्यान्—शिष्यों को; च—तथा; महा-आत्मनः—महान् सन्त; ततः—वहाँ (नैमिषारण्य) से; अगात्—चला गया; आश्रमम्—कुटिया में; साक्षात्—प्रत्यक्ष; पितुः—पिता; द्वैपायनस्य—द्वैपायन वेदव्यास की; मे—मेरे।

[शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा]: यह कहने के बाद नारद ने ऋषियों में अग्रणी श्री नारायण ऋषि को तथा उनके सन्त सदृश शिष्यों को भी शीश झुकाया। तब वे मेरे पिता द्वैपायन व्यास की कुटिया में लौट आये।

सभाजितो भगवता कृतासनपरिग्रहः ।
तस्मै तद्वर्णयामास नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

सभाजितः—सम्मानित; भगवता—भगवान् के स्वांश (व्यासदेव) द्वारा; कृत—कर चुकने पर; आसन—आसन की; परिग्रहः—स्वीकृति; तस्मै—उसको; तत्—वह; वर्णयाम् आस—कह सुनाया; नारायण-मुखात्—श्री नारायण ऋषि के मुख से; श्रुतम्—जो उसने सुना था।

भगवान् के अवतार व्यासदेव ने नारद मुनि का सत्कार किया और उन्हें बैठने के लिए आसन दिया, जिसे उन्होंने स्वीकार किया। तब नारद ने व्यास से वह कह सुनाया, जो उन्होंने श्री नारायण ऋषि के मुख से सुना था।

इत्येतद्वर्णितं राजन्यन्नः प्रश्नः कृतस्त्वया ।
यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये नीऋगुणेऽपि मनश्चरेत् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; एतत्—यह; वर्णितम्—सुनाया गया; राजन्—हे राजा (परीक्षित); यत्—जो; नः—हम से; प्रश्नः—प्रश्न; कृतः—किया गया; त्वया—तुम्हारे द्वारा; यथा—कैसे; ब्रह्मणि—ब्रह्म में; अनिर्देश्ये—शब्दों में जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता; निर्गुणे—निर्गुण; अपि—भी; मनः—मन; चरेत्—जाता है।

हे राजन्, इस प्रकार मैंने तुम्हारे उस प्रश्न का उत्तर दे दिया है, जो इस विषय में तुमने मुझसे पूछा था कि मन उस ब्रह्म तक कैसे पहुँचता है, जो भौतिक शब्दों द्वारा वर्णनीय नहीं है और भौतिक गुणों से रहित है।

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
य: सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुर: शास्ति ता: ।
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्त: कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

यः—जो; अस्य—इस (ब्रह्माण्ड) का; उत्प्रेक्षकः—निगरानी रखने वाला; आदि—इसके प्रारम्भ में; मध्य—बीच में; निधने—तथा अन्त में; यः—जो; अव्यक्त—अप्रकट (प्रकृति) का; जीव—तथा जीवों का; ईश्वरः—स्वामी; यः—जो; सृष्ट्वा—उत्पन्न करके; इदम्—इस (ब्रह्माण्ड) में; अनुप्रविश्य—प्रवेश करके; ऋषिणा—जीवात्मा के साथ; चक्रे—उत्पन्न किया; पुरः—शरीर; शास्ति—नियमन करता है; ताः—उन्हें; यम्—जिसको; सम्पद्य—शरणागत होकर; जहाति—त्याग देता है; अजाम्—अजन्मा (प्रकृति) का; अनुशयी—आलिंगन करते हुए; सुप्तः—सोया पुरुष; कुलायम्—उसका शरीर; यथा—जिस तरह; तम्—उस पर; कैवल्य—अपनी शुद्ध आध्यात्मिक स्थिति से; निरस्त—दूर रखा हुआ; योनिम्—जन्म; अभयम्—निर्भयता के लिए; ध्यायेत्—ध्यान करना चाहिए; अजस्रम्—सतत; हरिम्—भगवान् कृष्ण को।

वह ही स्वामी है, जो इस ब्रह्माण्ड की निरन्तर निगरानी करता है, जो इसके प्रकट होने के पूर्व, उसके बीच में तथा उसके बाद विद्यमान रहता है। वह अव्यक्त भौतिक प्रकृति तथा आत्मा दोनों का स्वामी है। इस सृष्टि को उत्पन्न करके, वह इसके भीतर प्रवेश कर जाता है और प्रत्येक जीव के साथ रहता है। वहाँ पर वह भौतिक देहों की सृष्टि करता है और फिर उनके नियामक के रूप में रहने लगता है। उनकी शरण में जाकर मनुष्य माया के आलिंगन से बच सकता है, जिस तरह स्वप्न देख रहा व्यक्ति अपने शरीर को भूल जाता है। जो व्यक्ति भय से मुक्ति चाहता है, उसे चाहिए कि उस भगवान् हरि का निरन्तर ध्यान धरे, जो सदैव सिद्धावस्था में रहता है और कभी भी भौतिक जन्म नहीं लेता।

तात्पर्य : जीवात्मा की सृष्टि करते समय भगवान् सुप्त ब्रह्माण्ड पर दृष्टि डाल कर उनकी सारी आवश्यकताएँ पूरी करते हैं। वे उन जीवों को जो सकाम कर्मी हैं भौतिक कार्य में सफलता पाने के

लिए आवश्यक बुद्धि तथा इन्द्रियाँ प्रदान करते हैं। जो दिव्य ज्ञान की खोज करते हैं उन्हें वे वह बुद्धि प्रदान करते हैं, जिससे वे ईश्वर के आध्यात्मिक तेज में लीन होकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। और भक्तों को तो वे वह समझ देते हैं, जिससे उन्हें शुद्ध भगवद्भक्ति प्राप्त हो।

इन विविध सुविधाओं की व्यवस्था करने के लिए भगवान् प्रकृति को उत्प्रेरित करते हैं कि वह ब्रह्माण्ड के विकास का कार्य प्रारम्भ करे। इस प्रकार भगवान् सृष्टि के *निमित्त कारणम्* अर्थात् प्रभावी कारण हैं। वे इसके *उपादान कारण* अर्थात अवयव कारण भी हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु उन्हीं से उद्भूत होती है और वे ही अकेले ऐसे हैं, जो सृजित जगत के पूर्व, बीच में तथा उसके अन्त में सदा-सर्वदा वर्तमान रहते हैं। *चतु:श्लोकी भागवत* में भगवान् नारायण स्वयं कहते हैं—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत्परम्।

पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्यते सोऽस्म्यहम्॥

"मैं ही वह भगवान् हूँ जो सृष्टि के पूर्व था जब मेरे सिवा और कुछ भी न था। न ही इस सृष्टि की कारणस्वरूप प्रकृति ही थी। इस समय जो तुम देखते हो, वह भी मैं भगवान् ही हूँ और प्रलय के बाद जो कुछ शेष रहेगा, वह भी मैं भगवान् ही हूँ।" (*भागवत* २.९.३३) आदि माया तथा जीवात्मा को क्रमश: सृष्टि के *उपादान* तथा *निमित्त* कारण कहा जा सकता है किन्तु भगवान् अन्तत: इन दोनों ही के उद्गम हैं।

जब तक जीवात्मा भगवान् की दया को स्वीकार नहीं करता वह *अनुशयी* है अर्थात् माया के आलिंगन में असहाय की तरह बँधा हुआ रहता है। जब वह भगवान् की पूजा करने लगता है, तो वह भिन्न अर्थ में *अनुशयी* रहता है—भगवान् के चरणकमलों में प्रणाम करने के लिए दण्ड की तरह गिरा हुआ रहता है। इस समर्पण से आत्मा अपने मोह को आसानी से उतार फेंकता है। यद्यपि मुक्तात्मा अब भी भौतिक शरीर में रहता प्रतीत होता है, किन्तु उससे उसका सम्बन्ध बाहरी दिखावे का ही रहता है। वह उसकी ओर उससे भी कम ध्यान देता है, जितना कि सोया हुआ व्यक्ति स्वप्नलोक में खोये रहने से अपने शरीर के प्रति देता है।

मनुष्य अपने भौतिक शरीर से अपनी झूठी पहचान करना छोड़ने से अज्ञान का परित्याग करता है। कभी कभी इस अवस्था को प्राप्त करने में कई जन्मों तक कठोर प्रयास करना पड़ सकता है, किन्तु

किसी-किसी के साथ भगवान् अपनी विशेष कृपा दिखा सकते हैं और ऐसा करते समय वे इसकी परवाह नहीं करते कि उस जीवात्मा ने नियमित अभ्यास से कितना पुण्य संचित किया है। श्री भीष्मदेव के शब्दों में—*यमिह निरीक्ष्य हता गताः स्वरूपम्*—जिन्होंने कृष्ण को कुरुक्षेत्र युद्ध-स्थल में देखा उन्होंने मारे जाने के बाद अपना मूल स्वरूप प्राप्त कर लिया। (*भागवत* १.९.३९) अघ, बक तथा केशी जैसे असुरों को बिना कोई आध्यात्मिक अभ्यास किये ही कृष्ण ने मोक्ष प्रदान किया—यह इस बात का संकेत है कि वे आदि भगवान् के अद्वितीय पद पर स्थित हैं। यह जान कर हमें अपना सारा भय तथा संशय ताक पर रख कर भक्ति की प्रक्रिया में दत्तचित्त होना चाहिए।

इस अध्याय की टीका के अन्तिम शब्दों के रूप में श्रील श्रीधर स्वामी लिखते हैं—

सर्वश्रुतिशिरोरत्ननीराजितपदाम्बुजम्।
भोगयोगप्रदं वन्दे माधवं कर्मिनम्रयोः॥

"श्रुतियों में सर्वश्रेष्ठ श्रुतियाँ अपने तेज से भगवान् माधव के चरणकमलों की आरती उतारती हैं। मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ, जो भौतिक कर्मियों द्वारा सम्मानित भौतिक भोग प्रदान करने वाले हैं और जो उन्हें आदरपूर्वक शीश झुकाते हैं, उन्हें वे अपने साथ दिव्य सम्बन्ध प्रदान करते हैं।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर भी इस अवसर का लाभ उठाकर यह विनीत प्रार्थना करते हैं—

हे भक्ता द्वार्ययं चञ्चद्वालधी रौति वो मनाक्।
प्रसादं लभतां यस्माद् विशिष्टः श्वेवनाथति॥

"हे भक्तो! यह निरीह प्राणी आपके द्वार पर अपनी पूँछ हिलाता और भौंकता हुआ खड़ा है। कृपा करके इसे थोड़ा प्रसादम् दे दें, जिससे यह कुत्तों में अद्वितीय बन कर अपने मालिक के तौर पर सर्वश्रेष्ठ स्वामी पा सके।" यहाँ पर आचार्य अपने ही नाम पर व्यंग्य करते हैं *विश* (इष्टः) "अद्वितीय," *श्व* (इव) "कुत्ते जैसा" *नाथ* (अति) "स्वामी वाला" वैष्णव दीनता की ऐसी पूर्णता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध के अन्तर्गत "साक्षात् वेदों द्वारा स्तुति" नामक सत्तासिवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।